हिन्दी साहित्य के अस्सी वर्ष

शिवदानसिंह चौहान

राजकमल प्रकाशन
दिल्ली बम्बई नई दिल्ली

मूल्य तीन रुपये

प्रकाशक,
राजकमल पब्लिकेशन्स लिमिटेड,
बम्बई ।

मुद्रक,
युगान्तर प्रेस, डफ़रिन पुल,
देहली।

अनुक्रम

प्रस्तावना—

हिन्दी-साहित्य के इतिहास की समस्या

हिन्दी-साहित्य के इतिहासकार हिन्दी शब्द का प्रयोग दो अर्थों में करते हैं, जिससे इतिहास के प्रबुद्ध विद्यार्थी अनेक भ्रांतियों में पड़ जाते हैं। हिन्दी-साहित्य के आदिकाल और मध्ययुग का इतिहास लिखते समय वे राजस्थानी, मैथिली, अवधी और ब्रज आदि उत्तर, पूर्व और मध्य-भारत में प्रचलित लगभग आठ-दस भाषाओं और बोलियों के प्राचीन साहित्य और श्रुति-परंपरा से प्राप्त लोक-काव्य को हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत स्थान देकर यह स्वीकार-सा करते दीखते हैं कि हिन्दी किसी एक भाषा का नाम नहीं है, बल्कि शौरसेनी और अर्ध-मागधी अपभ्रंशों से आठवीं-दसवीं शताब्दियों के बीच विकसित हुई जनपदीय भाषाओं के समूह का नाम है। इनमें से कभी किसी भाषा या बोली का अधिक प्रसार रहा तो कभी किसी का, फलतः साहित्य के सिंहासन पर कभी राजस्थानी तो कभी मैथिली, कभी अवधी तो कभी ब्रज आरूढ़ रही। इस प्रकार इस विशाल क्षेत्र की विभिन्न आधुनिक भाषाओं के साहित्यों के इतिहास को एक ही पुस्तक में भावुकतापूर्वक संकलित कर देने से समग्र रूप में आठवीं-दसवीं शताब्दी से हिन्दी में साहित्य-निर्माण की धारा का अविच्छिन्न प्रवाह दिखाना सुगम हो जाता है। किन्तु जब वे आधुनिक या वर्तमान साहित्य पर क़लम उठाते हैं तब उनकी भावुकता का केन्द्र भी बदल जाता है। आधुनिक युग के आते ही ब्रज, अवधी,

मैथिली, राजस्थानी आदि भाषाओं में परम्परा से होती आई साहित्य-निर्माण की तत्कालीन चेष्टाओं के प्रति वे सहसा असहिष्णु हो उठते हैं। खड़ी बोली में लिखे गये प्रत्येक इश्तिहार, दस्तावेज़ या आज्ञा-पत्र तक का तो वे संग्रह कर डालते हैं और राई-रत्ती प्रयत्न का भी एक आशावादी की भावुकता से उल्लेख कर देते हैं, लेकिन इस विशाल भू-भाग की अन्य भाषाओं और बोलियों में होने वाले साहित्यिक प्रयत्नों की नितान्त उपेक्षा कर जाते हैं। आधुनिक काल के कतिपय ब्रज-भाषा कवियों की प्रतिभा और काव्य-कृतित्व के कारण उन्हें यदि इतिहास में उनका उल्लेख करने के लिए विवश होना ही पड़ता है, तो वे उन्हें सामन्त-युग की एक मिटती हुई परम्परा के अवशेष-चिन्हों के रूप में दिखाते हैं, अर्थात् ऐसे रूढ़ि-रीतिवादी कवियों के रूप में जो अपने रूढ़ संस्कारों के कारण आधुनिक युग की नई समस्याओं और नई विचारधाराओं से एकात्म होकर अपनी कविता के लिए खड़ी बोली का माध्यम चुनने में असमर्थ रहे।[1] धीरे-धीरे भारतेन्दुकाल और उन्नीसवीं शताब्दी को पार करके हम जैसे ही बीसवीं शताब्दी में पदार्पण करते हैं, समय की धारा के 'विपरीत' चलने वाले ब्रजभाषा के कवियों का उल्लेख और भी विरल हो जाता है, और विद्यार्थी के मन में खड़ी बोली का संस्कृत-निष्ठ रूप ही 'हिन्दी-भाषा' का एकान्त पर्याय बन जाता है। भावुकता की धारा अकेले इस रूप को सींचने लगती है। हिन्दी-भाषा-समूह की अन्य भाषाओं-बोलियों में रचे जाने वाले

---

१. वस्तुतः तथ्य यह है कि सबसे पहले ब्रज-भाषा की कविता में ही आधुनिक समस्याओं और भावनाओं की अभिव्यक्ति हुई। बालकृष्ण गुप्त, भारतेन्दु हरिश्चन्द, बदरी नारायण 'प्रेमघन', प्रताप नारायण मिश्र आदि ने ब्रज-भाषा में ही उन्नीसवीं शताब्दी के चौथे चरण में कविता की, जिसमें राजभक्ति, समाज-सुधार और देश-प्रेम आदि की नई समस्याएँ व्यक्त हुईं

सामयिक साहित्य का सुसम्बद्ध विवरण इतिहास-पुस्तकों में कोई स्थान नहीं पाता। कुछ लोग उनके कवियों को शिष्ट-साहित्य की रचना करने वाले कवियों की पंक्ति से पीछे धकेल कर जन-कवियों या ग्राम-कवियों की श्रेणी में रखते हैं, किन्तु इतिहास में उल्लेखनीय वे फिर भी नहीं समझे जाते। आज उत्तर-भारत के विश्व-विद्यालयों में जो अनुसन्धान-कार्य हो रहा है, वह इस स्वीकृत परिपाटी के अनुसार ही।

संक्षेप में, आधुनिक काल से पहले तक तो हम हिन्दी-भाषा-समूह का इतिहास लिखते हैं (यद्यपि अलग-अलग भाषा-साहित्यों की विकास-धारा का अलग-अलग सुसम्बद्ध विवरण तब भी नहीं देते, फिर भी उन सब की ज्ञात और प्राप्त कृतियों का उल्लेख समग्र भाव से हिन्दी-साहित्य की परम्परा में ही करते हैं) लेकिन आधुनिक काल आते ही हम राष्ट्रभाषा हिन्दी (खड़ी-बोली का संस्कृत-निष्ठ साहित्यिक रूप) का इतिहास लिखने लगते हैं। पहले हमारी भावुकता हिन्दी की परम्परा को दीर्घतम और विशालतर दिखाने में व्यस्त होती है, और हिन्दी-भाषा-समूह की किसी भाषा या बोली की एक भी रचना को इस इतिहास-परम्परा से विलग करना बर्दाश्त नहीं करती, किन्तु फिर खड़ी-बोली के संस्कृत-निष्ठ रूप में ही (खड़ी-बोली का फ़ारसी-निष्ठ 'उर्दू' रूप भी इसमें सम्मिलित नहीं किया जाता) सीमित हो जाती है। आधुनिक काल आते ही हिन्दी-भाषा-समूह की अन्य भाषाओं के प्रति सहसा हमारी श्रद्धा का पारा इतनी तेज़ी से नीचे उतर कर शून्य पर पहुँच जाता है कि हमारी भावुकता उनमें अब साहित्य-रचना के फुटकर प्रयत्नों तक का औचित्य स्वीकार करने को राज़ी नहीं होती। जिन भाषाओं के माध्यम से भारतीय इतिहास के मध्य-युग में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की चेतना प्रस्फुटित-पल्लवित हुई, जिन्होंने अपने साहित्यों द्वारा समूची भारतीय संस्कृति के तत्त्वज्ञान, दर्शन, इतिहास-पुराण, विचार-परम्परा और नैतिक-मूल्यों को कलात्मक अभिव्यक्ति देकर अपने-अपने भाषा-क्षेत्रों में और सामान्य रूप से उत्तर-भारत में सर्वजन-सुलभ बनाया, उन्हीं

भाषाओं को हमारे इतिहासकार आधुनिक युग की राष्ट्रीय चेतना, नये विचारों, विज्ञान और समाज-शास्त्र के तथ्यों और सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति के लिए सर्वथा अनुपयुक्त ठहरा देते हैं। इस विडम्बना का यहीं अन्त नहीं है। वे एक स्वेच्छाचारी तर्क-पद्धति से, अथवा कहें अपने उच्छ्वास मात्र से ब्रजभाषा को (क्योंकि आधुनिक युग के प्रारम्भ में ब्रजभाषा ही मुख्य रूप से साहित्य-रचना की माध्यम थी, अन्यथा प्रच्छन्न रूप से इस विशाल भू-खंड की अन्य सभी भाषाओं और बोलियों को) सामन्ती दृष्टिकोण की प्रतिनिधि ठहराकर साहित्य-रचना के लिए वर्जनीय घोषित कर देते हैं, और खड़ी-बोली को, जिसमें सिद्ध-काव्य, संत-काव्य, वीर-काव्य, भक्ति-काव्य या रीति-काव्य आदि की कैसी भी प्राचीन परम्परा का नितान्त अभाव था और जिसमें अठारहवीं शताब्दी के अन्त तक या कहें उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध तक[1]

---

१. खड़ी-बोली की रेख़ता या फारसी-निष्ठ उर्दू शैली को हिन्दी के इतिहासकार आधुनिक हिन्दी-साहित्य के इतिहास से बहिष्कृत करते आये हैं। न वे उसे विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में दो विभिन्न संस्कृतियों के संगम से विकसित हिन्दी (खड़ी-बोली) का अनिवार्य रूप ही मानते हैं और न भारतीय ही। वे उसे कृत्रिम रूप से गढ़ी गई, राज्याश्रय की विलासिता में पली एक दरबारी शली ही मानते हैं। इस पर हम संक्षेप में आगे विचार करेंगे। यहां केवल इतना ही स्मरणीय है कि खड़ी-बोली की इस फ़ारसी-मिश्रित रेख़ता या उर्दू शैली में सोहलवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से विकसित होने वाली 'दक्खिनी हिन्दी' की काव्य-परम्परा के अतिरिक्त, **वली** (शम्शवली उल्ला, मृत्यु १७७४ ई०), **मीर** (मीर मुहम्मद तक़ी 'मीर', १७०६-१८०६ ई०), **दर्द** (ख्वाजा मीर 'दर्द', १७१५-१७८३ ई०), **नज़ीर** (वलीमुहम्मद 'नज़ीर' अकबराबादी, १७४०-१८३० ई०), **ज़ौक** (शेख़ मुहम्मद इब्राहीम ज़ौक, १७८६-१८५४ ई०), **ग़ालिब** (मिर्ज़ा असदल्ला खां 'ग़ालिब', १७६७-१८६६ ई०) **'मोमिन'** (हकीम

साहित्यिक दृष्टि से उल्लेखनीय, गद्य या पद्य की कोई मौलिक रचना नहीं मिलती, उसे आधुनिक चेतना की वाहक होने की एकान्त सामर्थ्य रखने वाली भाषा मान लेते हैं। ब्रज (तथा अन्य भाषाओं) को गद्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त और खड़ी-बोली को गद्य के लिए के सहज उपयुक्त घोषित कर देते हैं।

इतिहास-लेखन की यह परम्परा अनैतिहासिक और स्वेच्छाचारी है। इसके पीछे ऐतिहासिक दृष्टिकोण का अभाव है। एक प्रकार से यह पद्धति ही एक संकीर्ण सामन्ती दृष्टिकोण का पोषण करती है, साहित्य के विद्यार्थियों में जनवादी दृष्टिकोण का विकास नहीं करती। जिस तर्क-जाल का आश्रय लेकर हमारे इतिहासकार अपने दृष्टिकोण की इतनी असंगतियों को एक सूत्र में पिरोते हैं, वह अबौद्धिक और भावना-जन्य है, और हीन-भावना और संकीर्णता को जन्म देता है। दुर्भाग्य से अब तक के हमारे सभी इतिहासकार अतर्क्यभाव से इस अवैज्ञानिक दृष्टिकोण को ही अपनाते आये हैं, इसलिए हमारा संकेत किसी व्यक्ति-

मुहम्मद मोमिन खां 'मोमिन', १८००-१८५१ ई०), अमीर (मुन्शी अमीर अहमद 'अमीर' मीनाई, १८२८-१९०० ई०), दाग़ (नवाब मिर्जा खां 'दाग़', १८३१-१९०५), आज़ाद (शम्सउल-उलेमा मौलवी मुहम्मद हुसैन 'आजाद', १८२९-१९१० ई०), हाली (मौलाना अल्ताफ़ हुसैन 'हाली' १८४०-१९१६ ई०), अकबर (सैयद अकबर हुसैन 'अकबर' इलाहाबादी, १८४६-१९२१ ई०) आदि महाकवि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से पहले ही एक गौरवशाली काव्य-परम्परा और परिमार्जित गद्य-शैली का निर्माण कर चुके थे। उन्होंने अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी की देशव्यापी उथल-पुथल और नैतिक-आध्यात्मिक जीवन में छाये वैषम्य, वेदना, अवसाद और संकट को व्यापक कलात्मक अभिव्यक्ति देकर नये मानव-मूल्यों की सृष्टि की थी। आज भी इनमें से अनेक महाकवियों की ग़ज़लें लोकप्रिय हैं और विश्व-साहित्य में अपना सानी नहीं रखतीं।

विशेष की ओर नहीं है। एक भ्रान्त परिपाटी चल पड़ी है, जिसके प्रति पाठकों को सचेत करना हमारा कर्तव्य है। जिस समय प्रथम बार अधिकारी विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का अनुसन्धान किया, उससे बहुत पहले ही एक ओर हिन्दी-उर्दू की प्रतिद्वन्द्विता उग्र रूप धारण कर चुकी थी तो दूसरी ओर ब्रजभाषा-खड़ीबोली का विवाद भी चल पड़ा था। इन दोनों विवादों के पीछे राजनीतिक और एक सीमा तक सांस्कृतिक कारण थे, जिन्होंने सर्वसाधारण की धारणाओं को परस्पर-विरोधी दृष्टिकोणों की संकीर्ण, साम्प्रदायिक सीमाओं में केन्द्रित कर दिया था। फलतः हमारे अध्यवसायी, विद्वान् इतिहास-कारों के संस्कार भी इन प्रचलित धारणाओं से ही प्रभावित थे। लेकिन इतिहासकार एक वैज्ञानिक होता है, इतिहास की दृष्टि सामयिक और प्रचलित धारणाओं और मतवादों से ही परिचालित नहीं होती, बल्कि गत्यात्मक वास्तविकता की ऐतिहासिक गति और दिशा का उद्घाटन करने के लिए जो प्रत्यक्षतः दृश्यमान है उसके वास्तविक अथवा आन्त-रिक सत्य तक पहुँचने की चेष्टा करती है। तभी इतिहास मनुष्य के भावी-विकास की दृष्टि से सार्थक बनता है, हमारा पथ-प्रदर्शन करता है, नहीं तो विकृत दृष्टिकोण को प्रोत्साहन देकर हमारी दृष्टि-परिधि को सीमित बना देता है। वह इतिहासकार ही क्या जो प्रचलित धारणाओं और मतवादों के बाह्य-आवरण को चीर कर सत्य का उद्घाटन न कर सके या स्वयं उन मतवादों का चश्मा अपनी आँखों पर चढ़ाकर इतिहास को ही झुठलादे, या केवल इतिवृत्त का संग्रह करके छुट्टी पा ले। इतिवृत्त का संग्रह तो कोई परिश्रमशील विद्यार्थी भी कर सकता है। इसलिए हम यहाँ संक्षेप में इतिहास-लेखन की प्रचलित परिपाटी में घुस आई भ्रान्तियों पर विचार करेंगे, ताकि हमारे साहित्य का इतिहास उन असंगतियों से मुक्त हो सके, जिनका हमने उल्लेख किया है।

सब से पहले, साहित्य के सिंहासन पर उत्तर-मध्य भारत की कभी 'इस' तो कभी 'उस' भाषा के आरूढ़ होने की बात लें। जिसका मनुष्य

को विविध भाषाओं और साहित्यों के इतिहास से यत्किंचित परिचय भी है, वह जानता है कि यह तर्क कितना अनैतिहासिक और यह सामन्ती परिकल्पना कितनी हास्योत्पादक है। क्या भाषाओं की तुलना राज-वंशों से करना अभिप्रेत है? हम जानते हैं कि सामन्त-युग में दिल्ली के सिंहासन पर एक के बाद दूसरे राज-वंशों का दख़ल हुआ। एक वंश-परम्परा कुछ दिनों तक राज्य करने के बाद जब अपदस्थ कर दी गई तो दूसरे वंश के राजाओं या सुलतानों ने राज्य की बागडोर संभाली। लेकिन मनुष्य की भाषा राज-वंशों जैसा अस्थिर तत्त्व नहीं है। हर भाषा को किसी न किसी जाति या भू-खंड के मनुष्य ही बोलते हैं, इसलिए जब तक उसको बोलने वाले मनुष्यों का सर्वथा वंश-नाश नहीं हो जाता, तब तक वह भाषा मिट नहीं सकती। इसलिए कोई भी भाषा साहित्य-रचना के लिए राज्याभिषेक या सिंहासनारूढ़ होने की अपेक्षा नहीं रखती। हमारे इतिहासकार और साहित्य के विद्यार्थी सभी जानते हैं कि ऐसा कभी नहीं हुआ कि हिन्दी-समूह की कभी यह तो कभी वह भाषा साहित्य-सृजन का एक-मात्र माध्यम रही हो। कोई व्यक्ति इन भाषाओं के हज़ार-बारह सौ वर्षों के इतिहास को निश्चित तारीखों के अनुसार खंड-खंड बांट कर यह नहीं बता सकता कि अमुक सन् या संवत् तक इस भाषा का प्रसार था और फिर उस दूसरी भाषा ने हिन्दी-प्रदेशों की जनता की समस्याओं, भावों और अनुभवों को व्यक्त करने का दायित्व संभाला। फिर भी इस कपोल-कल्पना को तर्क के रूप में इस्तेमाल किया जाता है, ताकि इस क्षेत्र की अन्य भाषाओं और बोलियों के लोग खड़ी-बोली हिन्दी को साहित्य-सिंहासन की एक-मात्र उत्तराधिकारिणी मान लें। लेकिन अगर इस तर्कवाद को एक क्षण के लिए सही मान लें, तो भी खड़ी-बोली हिन्दी ही अब चिरकाल-तक इस सिंहासन पर विराजमान रहेगी और राजस्थानी, ब्रज, मैथिली, अवधी, भोजपुरी, बुन्देली आदि अन्यान्य भाषाओं में से कोई इसे अपदस्थ करके स्वयं सिंहासनारूढ़ नहीं हो जायगी, यह अन्तिम रूप से

कैसे कहा जा सकता है ? क्या मनुष्य का इतिहास अपने विकास के अन्तिम चरण में पहुँच कर परिवर्तन का नियम ही झुठला बैठा है ? क्या राजस्थान के लोग आज भी राजस्थानी नहीं बोलते ? क्या ब्रज-वासी अपनी मातृभाषा को छोड़ बैठे हैं या बिहार की जनता मैथिली, भोजपुरी को भूल गई है ? यदि नहीं, यदि यह सत्य है कि इस क्षेत्र की विभिन्न भाषाओं के निन्यानवे फीसदी बोलने वाले आज भी अपनी-अपनी मातृभाषाओं को ही बोलते हैं, तो कल उनमें कोई दूसरा चन्द, सूर, तुलसी या विद्यापति पैदा होकर हमारे इतिहासकारों के इतने यत्न और अध्यवसाय से तैयार किये गोरख-धन्धे को छिन्न-भिन्न नहीं कर डालेगा, इसकी संभावना से कैसे इन्कार किया जा सकता है ?

किन्तु इस संभावना से इन्कार करने के लिए ही शायद इस दूसरे अवैज्ञानिक तर्क की सृष्टि हुई है कि अन्य भाषाएँ गद्य-रचना के लिए अनुपयुक्त हैं। वस्तुतः यह तर्क इन प्रदेशों के लोगों में अपनी मातृ-भाषाओं के प्रति हीन-भावना पैदा करने में काफ़ी सफल हुआ है। इन प्रदेशों के रहने वाले खड़ी-बोली हिन्दी में उच्चातिउच्च शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी अपने सहज और सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति के लिए अपने घरों में अपनी मातृभाषाओं का ही प्रयोग करते हैं, और खड़ी-बोली हिन्दी में किसी विचार को सुन्दर-सुष्ठु शैली में व्यक्त करने के लिए उन्हें चाहे सिर के बाल नोंच-नोंच कर उपयुक्त शब्दों को खोजना पड़ जाता हो, किन्तु फिर भी इस बहु-प्रचारित धारणा के अनुसार वे सोचते यही हैं कि उनकी अपनी मातृभाषा गद्य की रचना के लिए अनुपयुक्त है, उसकी अभिव्यंजना-शक्ति इतनी नहीं कि वह आधुनिक विज्ञान-युग की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके, या उसमें उच्च-कोटि के कलात्मक उपन्यास, कहानी, नाटक अथवा आलोचना-साहित्य की रचना हो सके।

सत्य यह है कि आठवीं-दसवीं शताब्दियों के बीच जब मध्यकालीन अव्यवस्था और सांस्कृतिक ह्रास के फलस्वरूप शतशः वर्षों से चली

आती साहित्य की भाषा संस्कृत के बन्धन ढीले पड़े तो अपभ्रंशों का विकास स्थानीय परिस्थितियों और जातीय-जीवन की सांस्कृतिक, परम्पराओं के अनुसार इस प्रकार हुआ कि उत्तर, मध्य और पूर्वी भारत के विभिन्न प्रदेशों की बोलियों और भाषाओं का आधुनिक रूप स्थिर हो चला। ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी में मुसलमानों का शासन उत्तर-भारत और दिल्ली पर स्थापित हो जाने से जब भारतवासी एक नई सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क में आये तो कुछ उसके आघात से गति पाकर तो कुछ अपने तत्कालीन हिन्दू समाज के रूढ़ि-बन्धनों के विरुद्ध उत्पन्न हुई आन्तरिक और स्वाभाविक प्रतिक्रिया के कारण देश के जन-जीवन में एक व्यापक हलचल और सांस्कृतिक पुनर्जागरण की लहर पैदा हो गई। कुछ शताब्दियों के अन्दर इस लहर ने समस्त भारत को आप्लुत कर दिया, जिसके कारण अपभ्रंशों से विकसित हुई विभिन्न प्रदेशों की मातृ-भाषाओं को अपना-अपना विशिष्ट आधुनिक रूप स्थिर करने में सुगमता हुई। इस देशव्यापी सांस्कृतिक पुनर्जागरण का ही यह परिणाम था, कि विभिन्न प्रदेशों के कवियों ने अपनी-अपनी मातृ-भाषाओं को काव्य और साहित्य का माध्यम बनाया। वीरकाव्य, संतकाव्य और भक्तिकाव्य इसका प्रमाण हैं। यह प्रक्रिया काश्मीर से लेकर गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल और आसाम तक बहुत कुछ एक ही समय चालू हुई। दक्षिण की द्राविड़ी भाषाओं में साहित्य-निर्माण की अविच्छिन्न परम्परा बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थी। अर्थात् वहाँ साहित्य की भाषाएँ मातृ-भाषाएँ ही थीं। इस कारण वहाँ ऐसी भाषा-संबंधी क्रान्ति नहीं हुई, सांस्कृतिक पुनर्जागरण केवल काव्य-प्रवृत्तियों और विचार-धाराओं के क्षेत्र में ही व्यक्त हुआ। तब से सभी जन-भाषाओं में साहित्य-निर्माण का क्रम जारी है, केवल बाह्य राजनीतिक-सांस्कृतिक कारणों से, इस धारा का वेग चाहे कभी मन्द पड़ गया हो, चाहे बाह्य प्रलोभनों के कारण अनेक प्रतिभासम्पन्न कवियों ने राज्याश्रय या राज्य की ओर से मान्यता और सुविधाएँ प्राप्त अन्य

प्रदेश की भाषा में काव्य-रचना की हो और अपनी मातृ-भाषा को सम्पन्न बनाने के लिए लेखनी न उठाई हो, किन्तु फिर भी ऐसा कभी नहीं हुआ—ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसा होना संभव ही नहीं है—कि किसी भाषा में साहित्य-सृजन की धारा एकदम बन्द हो गई हो। भाषा एक अविच्छिन्न धारा है। उनके बोलने वाले शिष्ट-साहित्य के निर्माण की सुविधाओं से वंचित होकर अपने लोक-जीवन की सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही सही, परन्तु साहित्य की रचना तो करते ही जाते हैं। इसलिए जब ब्रजभाषा का अधिक प्रचार था और विशेषकर हिन्दू-राजाओं के दरबारों में ब्रजभाषा में काव्य-रचना करने वाले कवियों का ही आदर होता था, उस समय भी यह कहना ग़लत होगा कि राजस्थानी या मैथिली में वहाँ के कोई कवि लिखते ही नहीं रहे होंगे। और हम जानते हैं कि आज जब खड़ी-बोली हिन्दी को ही प्रोत्साहन दिया जा रहा है और शिक्षण, प्रकाशन और प्रचार की सुविधाएँ भी उसे ही प्राप्त हैं, इन सभी भाषाओं में स्थानीय रूप से काव्य-रचना हो रही है। यह ठीक है कि शिष्ट और बुद्धिजीवी वर्ग के अधिक प्रतिभा-सम्पन्न साहित्कार बाह्य प्रलोभनों के कारण अपनी मातृ-भाषाओं में न लिखकर खड़ी-बोली हिन्दी की ओर खिंचते हैं, जैसे किसी समय वे अंग्रेज़ी की ओर खिंचते थे, लेकिन उन भाषाओं में साहित्य-निर्माण की धारा बन्द नहीं हुई, न उसकी संभावना ही मिट गई। फिर भी साहित्य के इतिहासकार इसका उल्लेख नहीं करते।

भाषाओं का विकास समान रूप से नहीं होता, जैसे जातियों का विकास समान रूप से नहीं होता। देश-काल की परिस्थितियों और अपने ऐतिहासिक, जीवन के विकास-क्रम के अनुसार, जिसमें सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक परिस्थितियाँ भी शामिल हैं, जातियाँ विकास करती हैं और मानव-शास्त्र के विद्यार्थी जानते हैं कि मनुष्य की भाषाएँ इस विकास-क्रम को प्रतिबिम्बित करती हैं। अर्थात् भाषाओं

के इतिहास के आधार पर उनको बोलने वाली जातियों के सांस्कृतिक विकास का सही अनुमान लगाया जा सकता है। इसलिए यह कहना मूर्खतापूर्ण है कि अमुक भाषा में अभिव्यंजना-शक्ति की कमी है और अमुक में अभिव्यंजना-शक्ति अधिक है। अधिक से अधिक कोई भाषा तत्काल पिछड़ी हो सकती है, अर्थात् अपने बोलने वालों के सांस्कृतिक पिछड़ेपन के कारण आधुनिक विज्ञान और औद्योगिक समाज की विशिष्ट क्रियाओं, विचारधाराओं, भावनाओं या वस्तुओं को व्यक्त करने में अक्षम हो, लेकिन चिरकाल तक उसकी अभिव्यंजना-शक्ति सीमित ही बनी रहेगी, ऐसा कहने का अर्थ हुआ कि उसे बोलने वाली जाति कभी विकास ही नहीं करेगी। इसलिए मानव-शास्त्र जिस तरह मनुष्य-जातियों में श्रेष्ठ-अश्रेष्ठ या ऊँच-नीच का भेद-भाव नहीं मानता उसी तरह भाषा-शास्त्र भी इस तरह के भेद-भाव को स्वीकार नहीं करता। कोई भाषा किसी से हेठी नहीं है, किसी भाषा में सूक्ष्मतर अभिव्यंजना की निसर्ग शक्ति नहीं होती। मनुष्य के कर्ममय जीवन, पारस्परिक सहयोग, विचारों के आदान-प्रदान और सांस्कृतिक विकास के साथ ही भाषा में अनिवार्यतः अभिव्यंजना-शक्ति का भी विकास होता जाता है। इसी तरह कोई भाषा निसर्गतः गद्य-साहित्य के लिए अनुपयुक्त नहीं होती। वस्तुतः इसका ठीक उलटा ही सही है। हर भाषा के बोलने वाले अपने दैनंदिक जीवन में विचारों के आदान-प्रदान के निमित्त भाषा के गद्य रूप का ही प्रयोग करते हैं। और जो भाषा बोली जाती है, वह लिखी भी जा सकती है और उसमें शेक्सपियर और तॉलस्तॉय की प्रतिभा के लेखक भी रचना करके कृतार्थ हो सकते हैं। यह ठीक है कि हमारे देश की परिस्थितियों की अनुकूलता पाकर आधुनिक युग में खड़ी-बोली हिन्दी का सर्वतोमुखी विकास संभव हो गया। लेकिन राजस्थान, बिहार, अवध या ब्रज के लोगों का सांस्कृतिक धरातल मेरठ-दिल्ली के निवासियों से इतना पिछड़ा नहीं है—वस्तुतः बिल्कुल पिछड़ा नहीं है—जितना खड़ी-बोली हिन्दी के मुकाबले में उनकी

भाषाएँ अपने आधुनिक साहित्यों का विकास करने में पिछड़ गई हैं। काश्मीरी भाषा के सम्बन्ध में मैं स्वयं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि अभी पाँच साल पहले तक काश्मीरी में गद्य नहीं लिखा जाता था, यद्यपि राज्याश्रय और प्रकाशन की सुविधाओं से वंचित वहाँ के कवि चौदहवीं शताब्दी से ही काश्मीरी में काव्य-रचना करते आये थे। इसलिए जब हमने क़ौमी कल्चरल कांग्रेस की ओर से 'कोंगपोश' नाम की एक पत्रिका निकाली तो उसमें पहले कविताएँ तो काश्मीरी की छपीं, लेकिन निबन्ध-कहानियाँ वहाँ की राष्ट्रभाषा उर्दू में ही छापनी पड़ीं। मेरे सुझाव पर कुछ लेखकों ने काश्मीरी में कहानी, नाटक और निबंध लिखे, जो सुष्ठु गद्य और टेकनीक की दृष्टि से उर्दू की रचनाओं से श्रेष्ठ ही बन पड़े, क्योंकि अपनी मातृ-भाषा में उन लेखकों की प्रतिभा को साहित्यिक अभिव्यक्ति का सहज माध्यम मिल गया। उन्हें स्वयं अपनी सफलता पर आश्चर्य हुआ, और एक बार जो संकोच टूटा तो उनके उत्साह की सीमा नहीं रही। उन्हें यदि अनुकूल अवसर और सुविधाएँ मिलीं तो कौन जाने कुछ ही दिनों में हम गुजराती, मराठी, तमिल या बंगला के उपन्यासों और नाटकों की तरह काश्मीरी उपन्यासों और नाटकों का भी गर्व से उल्लेख करने के लिए बाध्य न हो जायें! इसलिए खड़ी-बोली हिन्दी की तुलना में इन भाषाओं की अभिव्यंजना-शक्ति क्षीण हो या उनमें अधुनातन शैली का गद्य-साहित्य न रचा जा सकता हो, यह नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उनको बोलने वालों के विचार और अनुभूति का स्तर अपेक्षतया नीचा नहीं है। अनुकूल अवसर, शिक्षण और प्रकाशन के साधन और सुविधाएँ पाकर ये सभी भाषाएँ आधुनिक गद्य-साहित्य का विकास करने में शायद एक-दो पीढ़ियाँ भी नहीं लगायेंगी। हमारे इतिहासकार अपने पक्षपातपूर्ण और पूर्वग्रही दृष्टिकोण के कारण इन संभावनाओं को अनदेखा करते रहे हैं।

इतिहास-सम्बन्धी इन भ्रान्तियों का इन्द्रजाल टूटते ही प्रश्न उठता है कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास कहाँ से शुरू हो, उसका विस्तार कहाँ

तक हो, अर्थात् क्या उसमें प्रचलित परिपाटी के अनुसार खड़ी-बोली हिन्दी से इतर उत्तर-मध्य भारत की अन्य भाषाओं का इतिहास भी सम्मिलित किया जाय या नहीं, यदि किया जाय तो किस रूप में, यदि न किया जाय तो चन्द, कबीर, जायसी, विद्यापति, सूर, तुलसी, मीरा, केशव, भूषण, मतिराम, बिहारी, देव, पद्माकर, घनानन्द, रत्नाकर आदि के बिना हिन्दी-साहित्य का इतिहास क्या नगण्य नहीं रह जायेगा ?

सौभाग्य से इस कल्पित नगण्यता का भय हमें आक्रान्त नहीं करता। हम जानते हैं कि राष्ट्र-भाषा पद की प्रतिद्वन्द्विता में उर्दू के मुकाबले में खड़ी-बोली हिन्दी का दावा मंजूर कराने के लिए उसकी प्राचीनता और व्यापकता प्रमाणित करने के हेतु ही अनेक प्रवादों का जन्म हुआ था, जिन्होंने अन्ततोगत्वा हमारी इतिहास-दृष्टि तक को संकीर्ण बना दिया, लेकिन हमें वक़ालत का यह तरीका प्रारम्भ से ही साम्प्रदायिक लगता रहा है। यह स्पष्ट होना चाहिए कि हिन्दी (खड़ी-बोली) किसी जन-बल पर राष्ट्रभाषा नहीं बनी,[1] बल्कि ऐतिहासिक

---

१. हिन्दी (खड़ी-बोली) कुरु जनपद (मेरठ-दिल्ली) की मातृभाषा है। उसके बोलने वालों की संख्या ब्रज, अवधी, राजस्थानी, भोजपुरी या मैथिली से कम ही है और लगभग उर्दू बोलने वालों के बराबर है। दिल्ली, अलीगढ़, आगरा, लखनऊ, इलाहाबाद, पटना, बनारस, कलकत्ता, बम्बई, नागपुर, जबलपुर, हैदराबाद (दक्खिन) आदि हिन्दी के केन्द्र रहे हैं, तो उर्दू के भी; क्योंकि मुसलमानों के शासन-काल में या मुग़ल साम्राज्य के विघटन के समय जो व्यापारी या कर्मचारी-वर्ग इन केन्द्रों में जाकर बस गया था, उसके साथ खड़ी बोली (प्रारम्भ में उर्दू) का इन नगरों में प्रसार हुआ। लेकिन इन केन्द्रों की और उनके ग्राम-क्षेत्र की बहु-संख्यक जनता अपनी प्राचीन मातृ-भाषाएँ ही बोलती रही।

संयोग और दिल्ली के आस-पास की भाषा होने के कारण ही। खड़ी-बोली के स्थान पर नेवारी, असमिया, पहाड़ी या मलयाली दिल्ली की परम्परागत भाषा होती तो ऐतिहासिक संयोग से वही राष्ट्रभाषा बनती। खड़ी-बोली की फ़ारसी-निष्ठ उर्दू शैली राष्ट्रभाषा नहीं बन सकी, क्योंकि पहले तो मुग़ल साम्राज्य का अन्त होते ही ऐतिहासिक संयोग उसके पक्ष में नहीं रहा और दूसरे भारत की प्राचीन इतिहास-परम्पराओं के साथ इस शैली का अंतरंग सम्बन्ध नहीं बन पाया, जैसा संस्कृत-निष्ठ खड़ी-बोली हिन्दी का है। और अब चूंकि हिन्दी-उर्दू का विवाद कोई अर्थ नहीं रखता, क्योंकि देश ने खड़ी-बोली हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लिया है, इसलिए नगण्यता का भय इतिहासकारों को तो कम से कम त्याग ही देना चाहिए, तभी वे इतिहास का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन-प्रणयन कर सकेंगे। व्यावहारिक दृष्टि से भी खड़ी-बोली हिन्दी का साहित्य ही राष्ट्रभाषा हिन्दी का साहित्य है, क्योंकि हिन्दी का यह रूप ही भारतीय संविधान में स्वीकृत है। राजस्थानी, मैथिली, ब्रज या अवधी का रूप राष्ट्रभाषा का नहीं है। इसलिए राष्ट्रभाषा हिन्दी का साहित्य जितना कुछ समृद्ध या नगण्य है, वह उतना ही है जितना खड़ी-बोली हिन्दी का साहित्य है। राष्ट्रभाषा हिन्दी की समृद्धि और विकास की संभावनाएँ खड़ी-बोली हिन्दी के साहित्य की समृद्धि और विकास पर ही अवलम्बित हैं। इसलिए हमारी दृष्टि में हिन्दी-साहित्य के इतिहास में केवल खड़ी-बोली में रचा गया हिन्दी-साहित्य ही परिगणित होना चाहिए, हिन्दी-भाषा-समूह की अन्य भाषाओं का साहित्य नहीं।

किन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं है। हमारा विचार है कि अब इतिहास-लेखन और अनुसन्धान की त्रिविध परिपाटी का सूत्रपात होना चाहिए। हिन्दी-भाषा-समूह के लगभग सभी क्षेत्रों में अब विश्वविद्यालयों की स्थापना हो चुकी है। कतिपय विद्यार्थियों ने अपने-अपने क्षेत्रों की मातृ-भाषाओं और बोलियों के साहित्य और इतिहास में अनुसंधान-कार्य

भी किया है, लेकिन मुख्यतः इन विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभाग खड़ी-बोली हिन्दी की दृष्टि से ही इस प्रकार के अनुसन्धान-कार्य को प्रोत्साहन देते हैं। अधिकतर लोक-गीतों और लोक-वार्ताओं आदि की खोज और संग्रह तक ही इन प्रयत्नों की व्याप्ति है। इन भाषाओं में आज भी काव्य-रचना हो रही है और गद्य-साहित्य के निर्माण की संभावना भी पैदा की जा सकती है, इस दिशा में इन विश्वविद्यालयों के हिन्दी-विभाग कोई प्रयत्न नहीं करते। फलतः आधुनिक युग के अनेक कवियों का नामोल्लेख हिन्दी-साहित्य के इतिहास में नहीं होता। लेकिन ये मृत भाषाएँ नहीं हैं, और जिन भाषा-भाषियों के खून-पसीने की कमाई पर इन विश्व-विद्यालयों और उनके हिन्दी-विभागों को चलाया जाता है, उनका कर्तव्य है कि वे हिन्दी-साहित्य को समृद्ध बनाने के साथ-साथ अपने-अपने क्षेत्रों की मातृभाषाओं पर भी विशेष रूप से ध्यान दें और उनके साहित्यों के इतिहास की विस्तृत खोज-बीन करायें। यदि हिन्दी-विभाग इसके लिए पर्याप्त न हों तो अपने-अपने क्षेत्रों की जनपदीय भाषाओं के अलग विभाग खोलने में विश्व-विद्यालयों को आपत्ति नहीं होनी चाहिए, जैसे आगरा और अलीगढ़ विश्व-विद्यालयों में ब्रज-भाषा-विभाग, लखनऊ विश्व-विद्यालय में 'अवधी-विभाग' आदि। अनुसंधान करने वाले विद्यार्थी के सामने विकल्प होना चाहिए कि वह चाहे तो अपनी भाषा के इतिहास की थीसिस शुद्ध मातृभाषा-गद्य में लिखे या खड़ी-बोली हिन्दी में। इन भाषा-गत इतिहासों में अपभ्रंश काल से लेकर आज तक के लिखित अथवा श्रुति-परम्परा से प्राप्त साहित्य का संग्रह, उसकी प्रवृत्तियों का विकास-क्रम और विवेचन, काल-क्रम से उनमें साहित्य-रचना के व्यापक प्रसार और ह्रास का सम्पूर्ण लेखा-जोखा होना चाहिए, ताकि ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह जाना जा सके कि किसी भाषा में किन अन्तर्बाह्य परिस्थितियों के अनुकूल अथवा प्रतिकूल संघटन के कारण साहित्य-निर्माण की धारा कभी वेग से फूट पड़ी तो कभी सूखकर मंद पड़ गई, और अब उनमें आधुनिक साहित्य के निर्माण

को प्रोत्साहन कैसे दिया जा सकता है। इस प्रकार जब उत्तर-मध्य भारत की विभिन्न भाषाओं और बोलियों के सुसम्बद्ध इतिहासों का अनुसन्धान और प्रणयन हो जाएगा, उस समय हम देखेंगे कि किसी भाषा-भाषी को अपमानित और लज्जित होने का अवसर नहीं रहेगा। वीर-काव्य, सन्त-काव्य, भक्ति-काव्य, रीति-काव्य या आधुनिक युग में साहित्य की मुख्य धारा से बहिष्कृत मातृभाषाओं के असंख्य कवि अपनी-अपनी भाषा-साहित्य के इतिहास में गौरवपूर्ण स्थान पायेंगे, और उनमें अपनी भाषाओं को उन्नत और विकसित करने की प्रेरणा जगेगी। तुलसीदास तब हिन्दी-साहित्य के इतिहास में नहीं, अवधी-साहित्य के इतिहास में अपने सजातीयों के साथ स्थान ग्रहण करेंगे। इससे उनकी विश्ववन्द्य महत्ता को आँच नहीं आयेगी, क्योंकि किसी भी महान् रचनाकार को स्वीकृति पाने के लिए जन-संख्या बल की अपेक्षा नहीं होती। मात्र पन्द्रह लाख लोगों की काश्मीरी भाषा का कोई कवि या लेखक भी शेक्सपियर की तरह सार्वभौमिक और सर्वकालिक महत्ता प्राप्त कर सकता है, यदि उसमें शेक्सपियर जितनी प्रतिभा हो।

इस व्यापक अनुसन्धान-कार्य के बाद इन सब भाषा-साहित्यों के स्वतन्त्र इतिहासों के आधार पर ही एक ऐसे बृहद् इतिहास की कल्पना की जा सकती है जो खड़ी-बोली के हिन्दी-उर्दू दोनों साहित्यों के साथ-साथ उत्तर-मध्य भारत की इन सब भाषाओं के साहित्यों का सम्मिलित इतिहास हो, जिसमें हर भाषा की देन को समान भाव से स्वीकार किया गया हो। व्यापक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक दृष्टि से ऐसे बृहद् इतिहास की अनिवार्यता सदा ही बनी रहेगी, क्योंकि इन सभी भाषाओं ने मिलकर उत्तर-मध्य भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण और राष्ट्रीय-चेतना के विकास में योग दिया है, जिसके कारण इस विशाल भू-खण्ड के जन-साधारण अपनी-अपनी विशिष्ट जातीय परम्पराओं के साथ ही एक-जातीयता का भी उतने ही प्रबल रूप से अनुभव करते हैं। उर्दू को भी इस बृहद् हिन्दी-भाषा-समूह के इतिहास में सम्मिलित करना होगा,

क्योंकि उर्दू भी इस क्षेत्र की एक भारतीय भाषा ही है और उत्तर-भारत ही नहीं, बल्कि समूचे भारत के राष्ट्रीय जागरण में उसका योगदान किसी अन्य भाषा से कम नहीं है। इस प्रकार इन त्रिविध धाराओं में बँटकर ही हिन्दी और हिन्दी-भाषा-समूह के साहित्यों का वैज्ञानिक दृष्टि से इतिहास लिखा जा सकता है, जो इतिहास-लेखन की पुरानी परिपाटी की असंगतियों, संकीर्णताओं और भ्रान्तियों से मुक्त हो।

इस निष्कर्ष पर पहुँचने का अर्थ यह है कि हिन्दी-भाषा-समूह की किसी एक या चार-पाँच भाषाओं का साहित्य चाहे हज़ार, बारह सौ या आठ सौ वर्ष पुराना हो, लेकिन हिन्दी-साहित्य अभी लगभग अस्सी-सौ वर्ष पुराना ही है। इसका यह अर्थ नहीं कि हिन्दी-भाषा (खड़ी-बोली) भी सौ वर्ष पुरानी है, वह तो निश्चय ही उतनी ही पुरानी है, जितनी हिन्दी-भाषा-समूह की अन्य भाषाएँ। लेकिन ऐतिहासिक संयोग ने जैसे हिन्दी को सौ-डेढ़-सौ वर्षों में ही आधुनिक साहित्य का विकास करने और राष्ट्रभाषा पद प्राप्त करने में सहायता दी उसी तरह दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में दिल्ली में मुसलमानों का केन्द्रीय शासन स्थापित हो जाने से ऐतिहासिक संयोग खड़ी-बोली के विपरीत पड़ा और उसका विकास अन्य भाषाओं की तरह स्वाभाविक मार्ग से न होकर चार-पाँच शताब्दियों तक अवरुद्ध रहा, और फिर रेख़्ता या उर्दू-ए-मुअल्ला के रूप में बाह्य प्रभावों को ग्रहण करके चला और अन्त में मुग़ल साम्राज्य के विघटन के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही एक अलग धारा के रूप में फूटकर अपनी प्राचीन जातीय संस्कृति के स्वाभाविक मार्ग को पकड़ सका। इसके लिए किसी को दोषी ठहराना व्यर्थ है। हमारे राष्ट्रीय इतिहास को ऐसे टेढ़े-मेढ़े, ऊँचे-नीचे मार्गों से अनिवार्यतः गुज़रना पड़ा है। इसलिए अनुसन्धान-कर्त्ता विद्यार्थियों को यह स्वीकार करने में हीनता का अनुभव नहीं करना चाहिए कि हिन्दी-साहित्य का इतिहास केवल एक शताब्दी का ही इतिहास है। कबीर और अमीर ख़ुसरो की रचनाओं में खड़ी-बोली

के यत्र-तत्र प्रयोगों की खोज करने का प्रयत्न निरर्थक है, क्योंकि उनके आधार पर खड़ी-बोली हिन्दी के साहित्य की किसी प्राचीन परम्परा को प्रमाणित कर लेना असम्भव है, अधिक से अधिक उनसे खड़ी-बोली के प्राचीन अस्तित्व का ही पता चलता है। इसी प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी से पहले (खड़ी-बोली) हिन्दी गद्य में जो फुटकर रचनाएँ या अनुवाद मिलते हैं, या फोर्ट विलियम कालेज में और सिरामपुर के पादरियों द्वारा जो संस्कृत-ग्रन्थों और इंजील आदि के अनुवाद किये गये, उन्हें हिन्दी-साहित्य की पूर्व-पीठिका के अन्तर्गत ही रख सकते हैं, क्योंकि वास्तविक रूप में किसी भाषा के साहित्य का इतिहास तो मौलिक साहित्य-सृजन की परम्परा से ही शुरू होता है। इस दृष्टि से देखें तो समूचे हिन्दी (खड़ी-बोली) साहित्य का इतिहास अभी तक एक शताब्दी भी नहीं पार कर पाया। स्मरण रहे कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का पहला मौलिक प्रहसन "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" सन् १८७३ में प्रकाशित हुआ था—आज से लगभग अस्सी वर्ष पूर्व।

इसलिए 'हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्ष' शीर्षक से हम जो कुछ लिख रहे हैं, वह 'आधुनिक' हिन्दी-साहित्य का इतिहास नहीं, समूचे हिन्दी (खड़ी-बोली) साहित्य का इतिहास है। 'आधुनिक' शब्द इस प्रसंग में भ्रम उत्पन्न कर सकता है कि संभवतः इस 'आधुनिक' के पूर्व भी कुछ था। अंग्रेज़ी, फ्रेन्च, तमिल, बँगला, राजस्थानी, ब्रज, मैथिली, अवधी आदि विविध भाषाओं के 'आधुनिक' साहित्यों की चर्चा तो की जा सकती है—की ही जाती है—लेकिन इस अर्थ में 'आधुनिक' हिन्दी-साहित्य की चर्चा करना असंगत है। साहित्य के रूप में हिन्दी-साहित्य सारा का सारा 'आधुनिक' ही है—हमारे राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार है। इतनी छोटी काल-अवधि में ही यह साहित्य इतनी सर्वांगीण उन्नति कर गया, यह गौरव और गर्व की बात है।

रोहतक —शिवदानसिंह चौहान
१ अगस्त १९५४

एक

●

हिन्दी-साहित्य की पूर्व-पीठिका—

भाषा-शास्त्रियों का अनुमान है कि सातवीं शताब्दी के मध्य में सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद भारत की आर्य-भाषाओं में पुनः परिवर्तन का क्रम वेग से चल पड़ा था। अपभ्रंशों का सिलसिला यद्यपि पूरी तरह चौदहवीं शताब्दी में जाकर ही समाप्त हुआ, लेकिन यह सर्वमान्य तथ्य है कि दसवीं शताब्दी के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते पाली, मागधी, अर्ध-मागधी, शौरसेनी आदि अपभ्रंशों से पूर्व, मध्य और उत्तर-भारत की वर्तमान प्रादेशिक या जातीय भाषाओं का आधुनिक रूप बहुत-कुछ स्थिर हो चला था। आठवीं-दसवीं शताब्दी से ही मध्यकालीन धर्मान्धता, बाह्याचरण, कर्मकाण्ड और वर्ण-व्यवस्था के कठोर बन्धनों के विरुद्ध सारे देश की साधारण जनता में घोर असन्तोष फैला हुआ था और कई जगह, विशेषकर बंगाल और बिहार की निम्न जातियों में अनेक वाममार्गी और कापालिक सम्प्रदायों के रूप में यह असन्तोष अनियन्त्रित और अराजकता-वादी रूप ग्रहण कर रहा था। इसी समय, ग्यारहवीं शताब्दी के प्रारंभ में, ईरान की ओर से आये मुसलमानों के उत्तर-भारत पर आक्रमण शुरू हो गये। महमूद गज़नवी ने भारत पर सोलह बार आक्रमण किये और उत्तर-भारत के मन्दिरों और नगरों को लूटने के साथ ही उसने पंजाब को

स्थायी रूप से अधिकृत करके मुस्लिम-साम्राज्य की नींव डाली। मुहम्मद ग़ौरी के आक्रमणों से पहले लगभग पौने दो सौ वर्षों तक पंजाब पर गज़नवी-सम्राटों का राज्य रहा। विदेशियों के आक्रमण और लूट-पाट की कटुता के बावजूद भारतीय जनता पर मुस्लिम-संस्कृति का गहरा प्रभाव पड़ा, विशेषकर इस्लाम के एकेश्वरवाद और समानता के सिद्धान्तों का। दो संस्कृतियों का संपर्क और लेन-देन आरंभ हुआ। इन सब अन्तर्बाह्य कारणों से देश में सांस्कृतिक पुनर्जागरण की व्यापक लहर दौड़ गई, जिसने बारहवीं-तेरहवीं-चौदहवीं शताब्दी में काश्मीर से कन्याकुमारी तक और आसाम से काठियावाड़ तक जन-जीवन में एक नई जाग्रति पैदा कर दी। देश की अन्यान्य प्रादेशिक भाषाओं में यह चेतना और जाग्रति संत-काव्य, वीर-काव्य और भक्त-काव्य की परम्पराओं के रूप में प्रतिबिम्बित हुई। यही काल था जब देश की आधुनिक लोक-भाषाओं में साहित्य की रचना का आरंभ हुआ। मुसलमान धीरे-धीरे समस्त उत्तर-भारत में फैल गये थे; अधिकतर यहां की निम्न-जातियों ने इस्लाम-धर्म स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार अधिकांश मुसलमान इस देश के ही मूल-निवासी थे। जो बाहर से आये थे वे भी मुस्लिम-राज्यों की स्थापना करके स्थायी रूप से यहीं बस गये थे, जिससे दोनों संस्कृतियों का मेल-जोल और आदान-प्रदान एक स्वाभाविक तथा अनिवार्य प्रक्रिया के रूप में युद्धों और राजकीय पक्षपातों के बावजूद बढ़ता गया। मुसलमानों, विशेषकर मुस्लिम फ़क़ीरों और सूफ़ी सन्तों ने देश के सांस्कृतिक पुनर्जागरण में हिन्दू भक्त-कवियों के समान ही पूरा योग दिया और देश की विभिन्न प्रादेशिक भाषाओं में उन्होंने भी काव्य-साहित्य की रचना की।

भारत के सांस्कृतिक पुनर्जागरण की इस पृष्ठभूमि में विभिन्न प्रदेशों की मातृ-भाषाएँ विकास करने लगीं। देश-काल की परिस्थितियों के अनुसार किसी भाषा में साहित्य-रचना की धारा अपेक्षया तीव्र या मन्द गति से चली, लेकिन ऐसी शायद ही कोई लोक-भाषा हो जिसमें उस समय से ही लिखित अथवा अलिखित साहित्य की (मुख्यतः काव्य-साहित्य की) रचना

का आरंभ न हो गया हो। हम पहले कह चुके हैं कि अपभ्रंशों से निकली हुई ये सब भाषाएँ भी आर्य-भाषाएँ ही हैं। संस्कृत हिन्द-ईरानी शाखा की प्राचीन काल से चली आती साहित्यिक भाषा थी, इस कारण जब देश की मातृ-भाषाओं का सांस्कृतिक पुनर्जागरण के युग में साहित्यिक नवसंस्कार हुआ, तो यह स्वाभाविक ही है कि उन्होंने अपनी-अपनी भाषागत विशेषताओं और व्याकरण और गठन को क़ायम रखते हुए आवश्यकतानुसार संस्कृत के विपुल शब्द-भंडार से शब्द उधार लिए। बंगाली, मैथिली, मराठी, ब्रज, अवधी, राजस्थानी आदि सभी भाषाओं के तत्कालीन काव्य-ग्रन्थों में संस्कृत के असंख्य शब्द अपने तत्सम और तद्भव रूपों में प्रयुक्त हुए हैं। ऐसा होना अनिवार्य था, संस्कृत के शब्द-भंडार की सहायता के बिना इन भाषाओं का आधुनिक विकास असंभव होता। लेकिन खड़ी-बोली सांस्कृतिक पुनर्जागरण के प्रारंभिक और मध्य-काल तक इसका अपवाद बनी रही। इसका मुख्य कारण यह है कि खड़ी-बोली दिल्ली-मेरठ के आस-पास की बोली थी, जहां मुहम्मद ग़ौरी के समय से ही मुसलमान शासकों का साम्राज्य स्थापित हो गया था। ईरान से आये मुसलमान शासक और उनके अमीर-उमरा फ़ारसी बोलते थे। फ़ारसी ही मुग़ल-साम्राज्य के विघटन तक अर्थात् लगभग पांच-छै सौ वर्षों तक मुसलमान-सम्राटों की राज्य-भाषा बनी रही। इसलिए खड़ी-बोली के साहित्य की धारा का विकास अन्य भाषाओं के स्वाभाविक विकास से भिन्न हुआ। शासन-केन्द्र के आस-पास की बोली होने के कारण खड़ी-बोली का साहित्यिक संस्कार होने में विलम्ब हुआ, और जब उसमें साहित्य-रचना शुरू हुई तो उसके विकास ने तत्कालीन परिस्थितियों में जो दिशा पकड़ी उसने कालान्तर में अनिवार्यतः उर्दू का रूप धारण कर लिया। केन्द्र में ऊपर की श्रेणी के लोग, जिन्हें लिखने-पढ़ने का चाव था, फ़ारसी भाषा का ही प्रयोग करते थे। इसके फलस्वरूप दिल्ली के बाज़ारों, मुसलमान सम्राटों की छावनियों आदि में, जहाँ हिन्दू-मुस्लिम व्यापारियों, राजकर्मचारियों और पढ़े-लिखे लोगों का नित्य-प्रति संपर्क

होता था, साधारण बोल-चाल की भाषा खड़ी-बोली में फ़ारसी के शब्द उतनी ही बहुलता से प्रवेश कर गये, जितनी बहुलता से अन्य मातृ-भाषाओं में संस्कृत के शब्द प्रवेश कर गये थे। यों तो नरपति नाल्ह और चन्द बरदाई और फिर बाद में कबीर, सूर, तुलसी आदि की भाषा में भी फ़ारसी के अनेक प्रचलित शब्दों का प्रयोग है, लेकिन वे शब्द मूल-भाषा के व्याकरण और प्रकृति का उल्लंघन करके नहीं आते, न वे संस्कृत-प्रभाव को हटाकर अपना एकछत्र प्रभाव जमाते हुए दीखते हैं। वस्तुतः वे हिन्दू-मुस्लिम संस्कृतियों के मेल-जोल और स्वच्छन्द आदान-प्रदान के प्रतिनिधि हैं। लेकिन दिल्ली-दरबार के प्रभाव में खड़ी-बोली का जो साहित्यिक रूप निखरा वह उर्दू की शक्ल में, एकान्ततः फ़ारसी का प्रभाव ग्रहण करके। इसीलिए उन्नीसवीं शताब्दी में देश-काल की नयी परिस्थितियों में ऐतिहासिक दृष्टि से खड़ी-बोली का पुनर्संस्कार अनिवार्य हो गया, अन्य भारतीय भाषाओं की तरह संस्कृत-प्रभाव ग्रहण करके, जिससे आधुनिक खड़ी-बोली हिन्दी का विकास हुआ। तत्कालीन परिस्थितियों में हिन्दी-उर्दू के विवाद में चाहे जितनी अवांछनीय कटुता आई हो, दोनों के पक्षधरों ने एक-दूसरे के विरुद्ध चाहे जो तर्क दिये हों और इतिहास के तथ्यों का अपने-अपने पक्ष में चाहे जिस तरह इस्तेमाल किया हो, यह स्मरण रखना चाहिए कि हमारे राष्ट्रीय इतिहास को जिन मार्गों से चलकर वर्तमान तक पहुँचना पड़ा है, उनमें यह अनिवार्य था कि खड़ी-बोली पहले उर्दू की शक्ल में विकास करती और फिर उसकी दो धाराएँ हो जातीं, एक उर्दू तो दूसरी हिन्दी की। ये धाराएँ कभी आगे मिल सकेंगी और खड़ी-बोली हिन्दी-उर्दू का कभी कोई सामान्य रूप विकसित हो सकेगा या नहीं, यह अनुमान की बात है, अतः इस स्थान पर उसका विचार करना असंगत है। साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भाषाओं का कोई धर्म नहीं होता। उर्दू मुसलमानों की और हिन्दी हिन्दुओं की भाषाएँ या खड़ी-बोली की साहित्यिक शैलियाँ नहीं हैं। खड़ी-बोली की दो साहित्यिक शैलियाँ इस प्रकार के धर्म-भेद के कारण

नहीं पैदा हुईं, बल्कि ऐतिहासिक और सामाजिक आवश्यकताओं के कारण ही पैदा हुईं, जिससे उन्हें अनिवार्यतः फ़ारसी या संस्कृत के प्रभाव में अपना-अपना भिन्न साहित्यिक संस्कार करना पड़ गया। दोनों ने देश की राजनीतिक एकता में समान रूप से भाग लिया है, पहले उर्दू ने, फिर राष्ट्रीय जागरण के युग से, उर्दू और हिन्दी दोनों ने। और इन ऐतिहासिक-सामाजिक आवश्यकताओं ने ही खड़ी-बोली हिन्दी को अन्त में देश की राष्ट्र-भाषा बनने का गौरव प्रदान किया है।

इसके साथ ही यह भी स्मरण रहे कि यद्यपि फ़ारसी के प्रभाव में विकास करने वाले खड़ी-बोली के साहित्यिक रूप को उर्दू नाम बहुत बाद में प्राप्त हुआ—सम्भवतः अठारहवीं शताब्दी में ही—और अमीर खुसरो या उनसे भी ढाई सौ वर्ष पहले ग्यारहवीं शताब्दी में खड़ी-बोली में कविता लिखने वाले ख्वाजा मसऊद साद सलमान के समय से सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी तक खड़ी-बोली की कविता को हिन्दी या हिन्दवी या बाद में रेख़्ता आदि नामों से ही पुकारा जाता था, लेकिन फिर भी उस कविता को उर्दू की काव्य-परम्परा के अन्तर्गत ही रखा जा सकता है, खड़ी-बोली हिन्दी की काव्य-परंपरा के अन्तर्गत नहीं रक्खा जा सकता। ख्वाजा मसऊद साद सलमान की 'हिन्दी' कविताओं का संग्रह अप्राप्य है, लेकिन अमीर खुसरो और मुहम्मद औफ़ी ने उनके हिन्दी कविता-संग्रह की चर्चा की है। उनके बाद बाबा फ़रीद शकरगंज, शेख़ हमीदुद्दीन नागौरी (मृत्यु, १२७४ ई०), शेख़ शफ़ुद्दीन बूअली क़लन्दर (मृत्यु, १३२३ ई०) अमीर खुसरो (मृत्यु, १३२४ ई०), शेख़ सिराजुद्दीन (मृत्यु, १३५६ ई०), शेख़ शर्फ़ुद्दीन मनेरी (मृत्यु, १३७० ई०), मख़दूम अशरफ़ जहांगीर (मृत्यु, १३५५ ई०), शेख़ अब्दुल हक़ रुदौलवी (मृत्यु १४३३ ई०), हज़रत गेसूदराज़ (मृत्यु १४२१ ई०), सैयद मुहम्मद जौनपुरी (मृत्यु १५०४ ई०), शेख़ बहाउद्दीन बाजन (मृत्यु १५०६ ई०) आदि के खड़ी-बोली में कबीर से पहले या उनके समय में लिखे बोल और दोहरे इस बात का प्रमाण

हैं कि यदि ग्यारहवीं शताब्दी से नहीं तो तेरहवीं शताब्दी से ही प्रचलित 'हिन्दी' नाम से खड़ी-बोली का फ़ारसी-अरबी शब्दों के मिश्रण से साहित्यिक संस्कार उस रूप में हो रहा था, जिसका नाम कालान्तर में 'उर्दू' पड़ा। इसलिए यह महत्व की बात नहीं है कि उस समय 'उर्दू' का नाम कोई जानता ही नहीं था। वस्तुतः उस समय की 'हिन्दी' का रूप आज की हिन्दी से भिन्न था, वह आज के उर्दू का ही पूर्व-रूप था। हिन्दी शब्द आज खड़ी-बोली की संस्कृत-निष्ठ शैली के लिए रूढ़ हो गया है। अतः नाम-साम्य से विद्यार्थियों को भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। भाषा या शैली की विकास-प्रवृत्ति को पहचानने की ही चेष्टा करनी चाहिए।

खड़ी-बोली हिन्दी-पद्य

इस तथ्य को अपनी संकीर्ण साम्प्रदायिक दृष्टि के कारण देख-समझने में असमर्थ हमारे इतिहासकारों ने खड़ी-बोली हिन्दी-साहित्य का इतिहास लिखते समय उसकी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए निरपवाद रूप से व्यर्थ ही इधर-उधर हाथ-पैर मारे हैं। उन्होंने यह दिखाने की चेष्टा की है कि यद्यपि मध्य-युगीन काव्य के क्षेत्र में राजस्थानी, अवधी या विशेष रूप से ब्रजभाषा का ही आधिपत्य रहा है, फिर भी साहित्य में खड़ी-बोली का प्रयोग भी ग्यारहवीं शताब्दी से होता आया है। यह तथ्य निर्विवाद है, जैसा कि हम अभी उर्दू के प्रसंग में बता चुके हैं। लेकिन हमारे इतिहासकारों का अभिप्राय खड़ी-बोली के फ़ारसी-निष्ठ रूप से नहीं होता, बल्कि आधुनिक हिन्दी रूप से होता है, जिसके उदाहरण विरल ही नहीं, साहित्यिक दृष्टि से नगण्य हैं। जैन विद्वान् हेमचन्द्र सूरि (सन् १०९३-११४२ ई०) के व्याकरण ग्रंथ 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' में अप-भ्रंश बोलियों के जो उदाहरण हैं उनमें से कई ऐसे हैं जिनमें खड़ी-बोली की आकारान्त प्रवृत्ति व्यक्त होती है और उससे खड़ी-बोली के अस्तित्व और प्राचीनतम स्वरूपों का पता चलता है, जैसे—*भल्ला हुआ जु*

मारिया बहिणि महारा कंतु, लज्जेजंतु वयंसिअहु जइ भग्गा घरु एंतु—में 'भल्ला, हुआ, मारिया, महारा, भग्गा' आदि की प्रवृत्ति खड़ी बोली का आभास देती है। इसी प्रकार राजस्थानी कवि नरपति नाल्ह के 'वीसलदेव रासो' (सन् ११५५ ई०) में 'मोती का आषा किया' 'दीधा ताजी उत्तिम ठाईं' 'चित्त फाट्या मन उचट्या' आदि पदांशों में और 'भराया, पहूँचा, पखाल्या, आव्या' आदि शब्द-प्रयोगों में भी खड़ी-बोली की आकारान्त प्रवृत्ति देखी जा सकती है। किन्तु इन उदाहरणों को बार-बार दुहराकर हमारे इतिहासकार क्या सिद्ध करना चाहते हैं? यही न कि इतने प्राचीन समय में भी खड़ी-बोली का अस्तित्व था, या यह कि शौरसेनी अपभ्रंश से निकलकर खड़ी-बोली विकास कर रही थी? लेकिन इन उदाहरणों से (खड़ी-बोली) हिन्दी-साहित्य के प्राचीन अस्तित्व का कोई संकेत नहीं मिलता। इसके पश्चात् अमीर खुसरो (सन् १२५६-१३०४ ई०) आते हैं। खुसरो फ़ारसी के प्रतिभाशाली कवि और लेखक थे, साथ ही उन्होंने खड़ी-बोली और ब्रजभाषा में भी लिखा है। खड़ी-बोली में उनकी पहेलियाँ और मुकरनियाँ प्रसिद्ध हैं। ब्रजभाषा में उन्होंने अधिकतर गीत ही लिखे। अपने समय के प्रचलित नाम के अनुसार उन्होंने भारत की भाषाओं के वर्णन में 'ज़बाने देहली' को 'हिन्दी' या 'हिन्दुई' लिखा है, जिससे हिन्दी के इतिहासकार अमीर खुसरो को खड़ी-बोली हिन्दी का पहला कवि मान लेते हैं। किन्तु उर्दू वाले भी उन्हें उर्दू का आदि कवि मानते हैं, क्योंकि यद्यपि अमीर खुसरो ने ग्यारहवीं शताब्दी के कवि ख्वाजा मसऊद साद सलमान के हिन्दी कविता-संग्रह का उल्लेख किया है, लेकिन उनकी रचना उपलब्ध नहीं है, और उपलब्ध सामग्री के अनुसार खुसरो ही उर्दू के प्रथम कवि ठहरते हैं। निस्सन्देह खुसरो की भाषा खड़ी-बोली हिन्दी की पूर्व-परम्परा में नहीं आती। वह इतनी परिष्कृत और साफ़ है कि उनके परवर्ती किसी हिन्दी कवि ने उन्नीसवीं शताब्दी से पूर्व खड़ी-बोली हिन्दी-कविता में उतनी परिष्कृत भाषा का प्रयोग नहीं किया, यद्यपि नामदेव, कबीर, नानक,

दादू आदि अनेक निर्गुण संत कवियों के पदों में यत्र-तत्र खड़ी-बोली के उदाहरण देखने को मिलते हैं। अमीर खुसरो, मराठी के कवि और संत नामदेव (जन्म १२७१ ई०) और कबीर (सन् १४००-१५१६ ई०) से उदाहरण देकर यह भेद स्पष्ट करना उचित होगा :

जब यार देखा नैन भर दिल की गई चिन्ता उतर।
ऐसा नहीं कोई अजब, राखे उसे समझाए कर॥
तूँ तो हमारा यार है, तुझ पर हमारा प्यार है।
तुझ दोस्ती विसयार है, इक शब मिलो तुम आय कर॥
खुसरो कहे बातें ग़ज़ब, दिल में न लावे कुछ अजब।
क़ुदरत खुदा की है अजब, जब जिव दिया गिल लाय कर॥

(अमीर खुसरो)

पांडे तुम्हारी गायत्री लोधे का खेत खाती थी।
लैकरि ढैंगा ढेंगरी तोरी लंगत लंगत आती थी॥
पांडे तुम्हारा महादेव धौल बलद चढ़ा आवत देखा था।
पांडे तुम्हारा रामचन्द्र, सो भी आवत देखा था॥
रावन सेती सरवर होई, घर की जोय गंवाई थी।
हिन्दु अन्धा, तुरकौ काना, दुवौ ते ज्ञानी सयाना॥
हिन्दु पूजै देहरा, मुसलमान मसीत।
नामा सोई सेविया, जहं देहरा न मसीत॥

(नामदेव)

नां कुछ किया न करि सक्या, ना करणें जोग सरीर।
जे कुछ किया सु हरि किया, ताथैं भया कबीर॥
कबीर किया कछू न होत है, अनकीया सब होइ।
जे किया कछु होत है तौ करता औरे कोइ॥

(कबीर)

इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि नामदेव और कबीर की मिश्रित सधुक्कड़ी भाषा में खड़ी-बोली का सुष्ठु, परिमार्जित रूप नहीं मिलता। अमीर खुसरो की खड़ी-बोली उनसे कहीं अधिक साफ़-सुथरी है, लेकिन उपरोक्त उदाहरण में भी उर्दू के पूर्व-रूप का आभास मिल जाता है।

इस प्रकार के फुटकर खड़ी-बोली प्रयोगों के उदाहरण गुरु नानक (सन् १४६६-१५३६ ई०), दादू (सन् १५४४-१६०३ ई०) और अन्त में भूषण (जन्म सन् १६१३ ई०) की शिवा-बामनी में कुछ स्थानों पर और मिलते हैं। इसके बाद इंशा अल्ला खाँ (मृत्यु १८१८ ई०) की लगभग १७९८-१८०३ ई० के बीच लिखी 'रानी केतकी की कहानी' में ठेठ खड़ी-बोली पद्य के कुछ गाने मिलते हैं :

रानी को बहुत सी बेकली थी। कब सूझती कुछ बुरी-भली थी।
चुपके-चुपके कराहती थी। जीना अपना न चाहती थी॥
कहती थी कभी मदन बान। है आठ पहर मुझे वही ध्यान।
याँ प्यास किसे भला भूख। देखूँ वही फिर हरे हरे रूख॥

किन्तु इन फुटकर उदाहरणों से उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पहले खड़ी-बोली हिन्दी की किसी अविच्छिन्न परम्परा का सूत्र नहीं खोजा जा सकता। छै-सात सौ वर्षों के बीच केवल इतने से उदाहरण अपवाद मात्र हैं और हमारी इस स्थापना को ही सिद्ध करते हैं कि हिन्दी का सारा का सारा साहित्य आधुनिक युग, या कहें राष्ट्रीय जागरण के युग की पैदावार है। इस दीर्घकाल में जब राजस्थानी, ब्रज, अवधी आदि में निरन्तर काव्य-साहित्य की रचना होती रही, उस समय हिन्दी (खड़ी-बोली) में ही क्यों नहीं हुई, इसके ऐतिहासिक कारणों का हम संक्षेप में निर्देश कर चुके हैं। लेकिन हिन्दी के अनेक इतिहासकारों ने इतिहास पर अपना साम्प्रदायिक दृष्टिकोण प्रक्षेपित करके यह मत प्रतिपादित किया कि उस समय हिन्दू लोग खड़ी-बोली को मुसलमानों की भाषा मानते थे, जिसके कारण उन्होंने अपने धार्मिक-ग्रन्थों के लिये ब्रज, अवधी आदि लोक-भाषाओं को अपनाया। इस तर्क के पक्ष में कोई ऐतिहासिक प्रमाण

नहीं दिया जाता। वस्तुतः ऐतिहासिक प्रमाण इसके विपरीत है। उस समय कम से कम, भाषा के सम्बन्ध में ऐसी कोई भावना नहीं थी, नहीं तो अमीर खुसरो ने, कबीर, यारी साहब, बुल्ला साहब, सदना, रज्जब, दरिया साहब जैसे मुसलमान निर्गुण-पंथी संतों ने, जायसी, दाऊद, रज्जन, कुतबन, जमाल, अहमद, उसमान, शेख नबी, कासिम शाह, नूर मुहम्मद, फाज़िलशाह, आशी जैसे मुसलमान प्रेममार्गी कवियों ने, रसखान, आलम, कारेखाँ फ़क़ीर, क़ादिर, जमाल, मुबारक, रसलीन, महबूब, अहमदुल्ला, दीन दरवेश, नज़ीर, इफ़ज़ुल्ला खाँ हाफ़िज जैसे कृष्ण-भक्ति परम्परा के मुसलमान कवियों और ताज और शेख़ जैसी कवियत्रियों ने, और अकबर, जहाँगीर, शाहजहाँ, औरंगज़ेब, शाहज़ादा आज़मशाह, शाह आलम बहादुर, जहाँदारशाह, मुहम्मद शाह, अहमद शाह तथा बहादुर शाह 'जफ़र' जैसे मुग़ल सम्राटों और शाहज़ादों ने और रहीम खानखाना और तानसेन जैसे मुसलमान अमीरों और दरबारियों ने अवधी और ब्रजभाषाओं में काव्य-रचना न की होती। क्यों न वे 'मुसलमानों की भाषा' खड़ी-बोली में ही लिखते ? क्यों यहाँ के काव्य की भक्ति-परम्परा को अपनाते ? ठीक इसी प्रकार सत्रहवीं शताब्दी से लेकर रसनिधि, वृन्दावन, नागरीदास, सीतल, महादजी, यहाँ तक कि स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने खड़ी-बोली उर्दू या रेख़ता में कविताएँ न रची होतीं। उर्दू काव्य-धारा के निर्माण में भी असंख्य हिन्दू-कवियों ने योग दिया है और अंग्रेज़ों के राज्यकाल में उभारी गई साम्प्रदायिक भावना के बावजूद रचनाशील साहित्यकारों ने भाषाओं का सम्बन्ध कभी धर्म से नहीं जोड़ा, और वे अपनी प्रतिभा के अनुकूल स्वच्छन्द रीति से हिन्दी या उर्दू को काव्य और साहित्य की भाषा के

इस प्रसंग को समाप्त करते हुए हम संक्षेप में हिन्दी और उर्दू के भेद को किंचित और स्पष्टता से बता देना उचित समझते हैं। हिन्दी-उर्दू की भिन्नता केवल संस्कृत या फ़ारसी के अधिक शब्दों के प्रयोग तक ही सीमित नहीं है। उनके व्याकरण, पिंगल, वाक्य-विन्यास आदि में भी पर्याप्त भेद उत्पन्न होगया है। प्राचीन कवियों को उर्दू की या हिन्दी की काव्य-परम्परा में स्थान देने से पहले हमने उनकी भाषा की प्रवृत्ति को परखने पर ज़ोर दिया है। यह ठीक है कि वर्तमान काल की क्लिष्ट उर्दू में खड़ी-बोली के क्रिया-पदों और कारक-चिन्हों के अतिरिक्त कभी-कभी प्रत्येक शब्द अरबी-फ़ारसी का होता है, जैसे हिन्दी की कतिपय रचनाओं में प्रत्येक शब्द संस्कृत का रहता है, जिससे दोनों शैलियाँ केवल ध्वनि-भेद के कारण ही एक-दूसरे से भिन्न दिखाई देती हैं। लेकिन जब उर्दू का वर्तमान रूप नहीं बना था और हिन्दी, हिन्दवी, दकनी हिन्दी, रेख्ता आदि का सरल-सुगम रूप था, उस समय भी उसकी प्रवृत्ति आधुनिक उर्दू की ओर ही थी, हिन्दी की ओर नहीं। इसीलिए हमने अमीर खुसरो को उर्दू का आदि कवि कहा है, हिन्दी का नहीं। प्रेममार्गी कवियों को हमने ब्रज-अवधी की काव्य-परम्परा के अन्तर्गत बताया है, क्योंकि उन्होंने अधिकतर परम्परा से लोक-प्रचलित भारतीय छन्दों का प्रयोग किया है और भाषा के ढाँचे में हेर-फेर नहीं किया। उर्दू काव्य की शैली और भाव-भूमि धीरे-धीरे पूर्णतः फ़ारसी से प्रभावित हो गई। उर्दू का पिंगल (अरूज़) फ़ारसी से लिए जाने के कारण हिन्दी के पिंगल से सर्वथा भिन्न है। मसनवी, क़सीदा, रुबाई, ग़ज़ल सभी फ़ारसी के हैं। फ़ारसी ने ये असनाफ़े सखुन (कविता के रूप-विधान) अरबी से लिए थे। फलतः उर्दू की अधिकतर परम्परागत उपमायें (तशबीहात) और रूपक (इस्तराआत) भी फ़ारसी-अरबी के हैं। वाक्य-विन्यास, बहुवचन, प्रत्यय आदि के प्रयोग और पारिभाषिक शब्दों के लिए फ़ारसी-अरबी पर निर्भर होने की प्रवृत्तियाँ भी दोनों के भेद को पुष्ट करती हैं। इन तथ्यों के आधार पर यह स्वीकार करना ही

इतिहास-संगत होगा कि हिन्दी (खड़ी-बोली) काव्य का सूत्रपात वस्तुतः श्रीधर पाठक (सन् १८५६-१९२८ ई०) ने ही किया। यों तो भारतेन्दु ने भी खड़ी-बोली की हिन्दी-उर्दू दोनों शैलियों में कुछ कविताएँ रची थीं, लेकिन वे कविता के लिए ब्रजभाषा का प्रयोग ही उचित समझते थे और उन्होंने ब्रजभाषा में काफ़ी अच्छी कविता की भी है। उनकी इक्की-दुक्की हिन्दी कविताएँ बहुत साधारण कोटि की हैं, तुकबन्दियाँ मात्र हैं, जैसे—

चूरन अमल वेद का भारी, जिसको खाते कृष्ण मुरारी।
मेरा पाचक है पचलोना, जिसको खाते श्याम सलोना॥

....

चूरन अमले सब जो खावें, दूनी रिश्वत तुरत पचावें।
चूरन नाटक वाले खाते, इसकी नकल पचाकर लाते॥

(अन्धेर नगरी)

या

कहां हो ऐ हमारे राम प्यारे, किधर तुम छोड़कर हमको सिधारे।
बुढ़ापे में यह दुख भी देखना था, इसी के देखने को मैं बचा था॥

(दशरथ-विलाप)

निश्चय ही इन उदाहरणों में कविता ढूँढना व्यर्थ है। न इन फुटकर रचनाओं के आधार पर भारतेन्दु को हिन्दी-कविता का जनक कह सकते हैं। इनके ही समकालीन श्रीधर पाठक अपेक्षया अधिक सामर्थ्य के कवि थे और उन्होंने हिन्दी में जो कविता की, वह केवल टेकनीक और रूप की दृष्टि से ही नहीं, विचार-वस्तु की दृष्टि से भी नवीन थी, परम्परागत ब्रजभाषा काव्य से भिन्न तो थी ही, राष्ट्रीय जागरण के आरम्भ काल की प्रतिनिधि भी थी। उन्होंने लावनी की शैली पर 'एकान्तवासी योगी' की सन् १८८७ ई० में रचना की, जिसने हिन्दी-कविता की परम्परा सूत्रपात किया।

खड़ी-बोली हिन्दी-गद्य

हिन्दी गद्य-साहित्य की सबसे पहली मौलिक कृति भारतेन्दु का "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" प्रहसन है जो 'एकान्तवासी योगी' से १४ वर्ष पूर्व सन् १८७३ ई० में प्रकाशित हुआ। इसी वर्ष भारतेन्दु ने "हरिश्चन्द्र मैगज़ीन" निकाली थी, एक वर्ष बाद उन्होंने इस पत्रिका का नाम बदल कर "हरिश्चन्द्र चन्द्रिका" कर दिया। इसकी भाषा के सम्बन्ध में स्वयं भारतेन्दु ने लिखा था कि "हिन्दी नई चाल में ढली, सन् १८७३ ई०।" किन्तु फिर भी भाषा की दृष्टि से चाहे हम सन् १८७३ ई० को हिंन्दी-गद्य का आरंभ-काल न मानें, साहित्य की दृष्टि से तो "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति" को ही हिन्दी साहित्य की प्रथम मौलिक रचना स्वीकार करना पड़ेगा। हिन्दी गद्य के विकास की दृष्टि से यह तिथि अवश्य सही नहीं है। साथ ही, यह आश्चर्य की बात नहीं है कि हिन्दी में पहले गद्य का विकास हुआ और फिर पद्य-साहित्य का, यद्यपि विश्व की अधिकांश भाषाओं के इतिहास में साहित्यिक-विकास का क्रम इससे उल्टा रहा है। उत्तर-भारत में अंग्रेजों के शासन की स्थापना, प्रेस आदि लग जाने से उत्पन्न प्रचार-साधन की सुविधा और पराधीनता के विरुद्ध उत्पन्न हुई स्वाभाविक प्रतिक्रिया, पुनरुत्थान की भावना और राष्ट्रीय जागरण की प्रथम चेतना के फलस्वरूप ही यह विकास सम्भव हो सका। इन परिस्थितियों में सबसे पहले एक ऐसी भाषा में साहित्य-रचना की आवश्यकता महसूस हुई जो सामान्य रूप से समूचे भारत में या कम से कम देश के केन्द्रीय नगरों में, समझी जाती हो, (बोली नहीं) और देश की राजनीतिक, सामाजिक एकता में योग दे सके। मुसलमान सम्राटों के दीर्घकालीन राजत्वकाल में सांस्कृतिक आदान-प्रदान और राजकीय आवश्यकताओं के कारण परम्परा से अपने उर्दू और हिन्दी रूपों में, खड़ी-बोली ही समूचे देश में अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार की भाषा बनी हुई थी। इसलिए खड़ी-बोली के इन दोनों रूपों में, विशेषरूप से हिन्दी में

गद्य का इतनी तेज़ी से विकास हुआ। हिन्दी में विशेषरूप से इसलिए कि संस्कृतनिष्ठ हिन्दी-रूप अन्य भारतीय भाषाओं के अधिक निकट है।

खड़ी-बोली हिन्दी गद्य की प्राचीनता प्रमाणित करने के लिए भी हमारे इतिहासकारों ने काफ़ी ज़ोर लगाया है। लेकिन कुछ फुटकर रचनाएँ ही हाथ लगी हैं। ऐसी फुटकर रचनाओं में अकबर-दरबार के गंग कवि की 'चन्द छन्द बरनन की महिमा' सर्वप्रथम उल्लेखनीय है। सन् १५८० में लिखी गई इस छोटी-सी पुस्तक को हिन्दी गद्य की पुस्तक माना जाता है। इसके बाद जटमल नाम के लेखक की पुस्तक 'गोरा-बादल की कथा' मिलती है, जिसका रचनाकाल सन् १६२४ ई० है। इन दोनों पुस्तकों की भाषा ब्रजमिश्रित खड़ी-बोली है और साहित्यिक दृष्टि से दोनों का मूल्य नगण्य है। इसके बाद एक शताब्दी से अधिक काल तक हिन्दी गद्य का फिर कोई उदाहरण सामने नहीं आता। पटियाला की महारानी को कथा बाँच कर सुनाने वाले पण्डित रामप्रसाद निरंजनी ने सन् १७३२ ई० में संस्कृत से योगवासिष्ठ का साफ़-सुथरी परिमार्जित खड़ी-बोली हिन्दी में 'भाषा-योग-वासिष्ठ' नाम से अनुवाद किया। लेकिन इससे यह परिणाम निकालना ग़लत होगा कि उनके समय में हिन्दी में परिष्कृत गद्य लिखा जाने लगा था, क्योंकि इनके पश्चात् सन् १७६१ ई० में पण्डित दौलतराम ने हरिषेणाचार्य कृत 'जैन पद्मपुराण' का हिन्दी में जो अनुवाद किया उसकी भाषा त्रुटिपूर्ण और अपरिमार्जित है। इसी प्रकार राजपूताने के किसी अज्ञात लेखक की पुस्तक 'मण्डोवर का वर्णन' (रचनाकाल लगभग सन् १८३० ई०) की भाषा शुद्ध खड़ी-बोली नहीं है। इन कतिपय उदाहरणों से हिन्दी-गद्य की परम्परा को उन्नीसवीं शताब्दी से पहले खींच ले जाना उचित नहीं जान पड़ता। ये अपवाद हैं। और साहित्यिक दृष्टि से मूल्यवान न होने के कारण और भी कम महत्व रखते हैं। वस्तुतः हिन्दी-गद्य की अखंड परम्परा का उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से और गद्य-साहित्य (नाटक, उपन्यास, कहानी आदि) का उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही सूत्रपात होता है।

'आर्केडिया' (१५६०) और **जॉन बुनियन** का 'पिलग्रिम्स प्रोग्रेस' (१६७८-८४), **डेनियल डैफो** का 'राबिन्सन क्रूसो' (१७१६), और 'मॉल फ्लैण्डर्स' (१७२२) तथा **जानेथन स्विफ्ट** का 'गुलीवर्स ट्रेवल्स' (१७२६) प्रकाशित हो चुके थे, जिन्होंने अन्योक्ति-विधान द्वारा मानव-जीवन के यथार्थों का चित्रण करके आधुनिक उपन्यास के विकास के लिए एक महान् परम्परा तैयार कर दी थी। इस समृद्ध परम्परा की गोद में आधुनिक उपन्यास का इंगलैण्ड में, फिर फ्रान्स और रूस में प्रौढ़तम विकास और चरमोत्कर्ष हुआ। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी के इंगलैण्ड में असाधारण औपन्यासिक प्रतिभाएँ जन्मीं। **सेम्युअल रिचर्ड-सन** (पॉमेला १७४०), **स्मॉलैट** (रोडेरिक रैण्डम १७४८), **हैनरी फील्डिंग** (टॉम जोन्स, १७४६, अमीलिया १७५१) ने अपनी अमर रचनाओं द्वारा उपन्यास-साहित्य को नई प्रगति और समृद्धि दी। इसके बाद तो इंगलैण्ड में **स्टर्न** (ट्रिस्ट्रम शैण्डी), **ऑलिवर गोल्डस्मिथ** (विकार ऑफ वेकफ़ील्ड), **जेन आस्टिन** (प्राइड एण्ड प्रेजुडिस), **सर वाल्टर स्कॉट** (वेवर्ली नावेल्स), **चार्ल्स डिकेन्स** (डेविड कॉपरफ़ील्ड), **शार्लटब्राण्टी** (जेन आयर), **थेकरे** (वेनिटी फ़ेयर) और **जॉर्ज इलियट** (एडम वीड) आदि अनेक महान् उपन्यासकार हुए। फ्रान्स में **वाल्तेयर, विक्टर ह्यूगो, बाल्ज़क, स्टेन्ढाल, जॉर्ज सेण्ड, ज़ोला, फ्लाबेयर और अनातोले फ्रान्स,** जर्मनी में **गेटे;** रूस में **पुश्किन, गोगोल, लर्मान्तोफ तुर्गनेव, दूवायत्सोवस्की, तॉलस्ताय** जैसी महान् प्रतिभाओं ने अपनी अमर कृतियों से उपन्यास-साहित्य का चरम विकास किया। यद्यपि प्रत्येक महान् उपन्यासकार ने उपन्यास-कला में अभिवृद्धि की थी, किन्तु फिर भी साहित्य के अन्य रूपों से भिन्न उपन्यास की अपनी अलग सत्ता बन गई थी। लेखकों की शैली और जीवन के प्रति देखने के ढंग से चाहे हम उपन्यासों का प्रवृत्तिमूलक वर्गीकरण रोमाण्टिक (छायावादी), यथार्थवादी, प्रभाववादी और प्रकृतिवादी के रूप में क्यों न कर लें, किन्तु इस समस्त विकास से इतना तो स्पष्ट हो चुका था कि वस्तु-निरूपण की दृष्टि से

उपन्यास का उद्देश्य या तो मनोरंजन करना है, या जीवन की किसी समस्या को उपस्थित करना है, या ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को अंकित करना है। साथ ही रूप-विधान और वस्तु-विन्यास के सम्बन्ध में भी ये सामान्य तथ्य निर्धारित हो ही चुके थे कि उपन्यास में कथानक और चरित्र-चित्रण ही प्रमुख हैं; इन दोनों में से किसी के बिना उपन्यास की रचना असम्भव है। अन्त में इन गुणों की भी स्थापना हो चुकी थी कि उपन्यास कितना भी यथार्थवादी क्यों न हो वह एक कल्पनाजन्य कृति है, बाह्य जीवन की केवल यथातथ्य अनुकृति नहीं, और यह कि उपन्यास कितना भी काल्पनिक क्यों न हो मानव-जीवन और मानव-अनुभव ही उसका मूलाधार है।

जिस समय हमारे देश में राष्ट्रीय जागरण की लहर उठी और हमारा अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त वर्ग पाश्चात्य साहित्य और संस्कृति के संपर्क में आया तो उस समय तक यूरोपीय उपन्यास-साहित्य का उतना विकास हो चुका था जिसका हमने ऊपर ज़िक्र किया है। परन्तु फिर भी हिन्दी में उपन्यासों का विकास केवल पाश्चात्य उपन्यासों की देखा-देखी ही नहीं हुआ। न पाश्चात्य देशों के श्रेष्ठ उपन्यासों की परम्परा से ही विशेष प्रेरणा ली गई और न किसी लेखक ने किसी महान् पाश्चात्य उपन्यास के पैमाने पर हिन्दी में प्रयोग करने का साहस ही किया। हिन्दी से पहले ही बंगाली में अच्छे उपन्यासों की रचना शुरू हो गई थी, इसलिए उनकी देखा-देखी हिन्दी में भी उपन्यास लिखे गए। साथ ही ढेर-के-ढेर बंगाली उपन्यासों का अनुवाद भी किया गया। ये प्रारम्भिक प्रयोग प्रेमचन्द के आगमन तक बदस्तूर जारी रहे, और हिन्दी के उपन्यासकार आचार, धर्म, नीति और समाज-सुधार की भावना से उपदेशात्मक उपन्यास या केवल मनोरंजन के लिए तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यास लिखते रहे, लेकिन उनमें से कोई उपन्यास साहित्य की स्थायी सम्पदा बनने योग्य नहीं है। अतः प्रेमचन्द ने ही सर्वप्रथम अपनी श्रेष्ठ कृतियों से हिन्दी-उपन्यास को वह प्रौढ़ता, गरिमा और अर्थवत्ता प्रदान की जो बंकिम, रवीन्द्र और शरत् की कृतियों

ने बंगला उपन्यासों को या महान् पाश्चात्य लेखकों ने यूरोपीय उपन्यासों को प्रदान की थी। इसलिए प्रेमचन्द से पूर्व के हिन्दी-उपन्यासों का उल्लेख केवल इतिवृत्त की पूर्ति और परम्परा के विकास को जानने के लिए ही महत्त्वपूर्ण है, यद्यपि प्रेमचन्द सोलहों आने इस परम्परा से संबद्ध नहीं हैं। वस्तुतः आधुनिक हिन्दी-उपन्यास की परम्परा का सूत्रपात प्रेमचन्द से ही होता है।

भारतेन्दु उपन्यासों की शक्ति से परिचित थे, और उन्होंने स्वयं एक उपन्यास लिखना शुरू किया था जो पूरा न हो सका। इसके अतिरिक्त उन्होंने एक उपन्यास (पूर्ण प्रकाश और चन्द्रप्रभा) का अनुवाद भी किया था। लेकिन हिन्दी का सबसे पहला मौलिक उपन्यास 'परीक्षा गुरु' (सन् १८८२) है, जिसके लेखक **लाला श्रीनिवासदास** थे। इसके पश्चात् **रत्नचन्द प्लीडर** ने 'नूतन चरित्र' (१८८३), **बालकृष्ण भट्ट** ने 'नूतन ब्रह्मचारी' (१८८६) और 'सौ अजान और एक सुजान' (१८९२), **राधाकृष्णदास** ने 'निस्सहाय हिन्दू' (१८९०), **राधाचरण गोस्वामी** और **देवीप्रसाद शर्मा** ने 'विधवा-विपत्ति' (१८८८), **कार्तिक-प्रसाद खत्री** ने 'जया' (१८९६), **किशोरीलाल गोस्वामी** ने 'लवंग-लता', 'कुसुम-कुमारी' (१८९०), **बालमुकुन्द गुप्त** ने 'कामिनी', **गोपाल-राम गहमरी** ने 'नये बाबू' (१८९४) 'सास-पतोह' और 'बड़ा भाई' (१८९८), और **लज्जाराम मेहता** ने 'धूर्त रसिकलाल' और 'स्वतन्त्र रमा और परतन्त्र लक्ष्मी' आदि उपन्यास लिखे। इन सामाजिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के साथ-साथ तिलिस्म और ऐयारी के उपन्यास भी लिखे गए। **देवकीनन्दन खत्री** फ़ारसी और उर्दू से इस परम्परा को हिन्दी में लाये। सन् १८९१ में उन्होंने 'चन्द्रकान्ता' और 'चन्द्रकान्ता-सन्तति' लिखे जो रोचक वर्णन और तिलिस्म, ऐयारी और जासूसी से भरी रोमांचकारी घटनाओं के कारण इतने लोकप्रिय हुए कि अनेक लेखकों ने उनका अनुकरण किया। फलतः सन् १९१५ तक हिन्दी में ऐसे ही उपन्यासों की बाढ़ रही। **देवीप्रसाद शर्मा, जगन्नाथप्रसाद**

चतुर्वेदी, किशोरीलाल गोस्वामी के अतिरिक्त हरेकृष्ण जौहर, बालमुकुन्द वर्मा, मदनमोहन पाठक, विश्वेश्वरप्रसाद वर्मा, रामलाल वर्मा, चतुर्भुज औदिच्य और चन्द्रशेखर पाठक आदि ने ऐयारी के उपन्यासों का ताँता बाँध दिया और गोपालराय गहमरी, रुद्रदत्त शर्मा, जयरामदास गुप्त, ईश्वरीप्रसाद शर्मा, जंगबहादुरसिंह, शेरसिंह, चन्द्रशेखर पाठक, शिवनारायण द्विवेदी आदि की कलम जासूसी उपन्यासों के अतिरंजित रोमांचकारी कथानकों की ख़ानापूरी करती रही।

किन्तु प्रेमचन्द से पूर्व, इस शताब्दी के पहले पन्द्रह वर्षों में ऐतिहासिक, सामाजिक और प्रेमाख्यानक उपन्यास भी कम नहीं लिखे गए। ऐतिहासिक उपन्यास उन दिनों नाम को ही ऐतिहासिक होते थे, न उनसे लेखक का ऐतिहासिक अनुसंधान प्रकट होता था, न वातावरण ही। उन पर भी तिलिस्मी उपन्यासों का गहरा प्रभाव था। इसलिए किशोरीलाल गोस्वामी, बलदेवप्रसाद मिश्र, रामप्रताप शर्मा 'नरदेव', विट्ठलदास नागर, कुमारसिंह, मिट्ठूलाल मिश्र, श्यामसुन्दर वैद्य, लालजीसिंह, मथुरा प्रसाद शर्मा, जयरामलाल रस्तोगी, जयरामदास गुप्त, रामप्रसाद सत्याल, बलभद्रसिंह, कृष्णप्रकाशसिंह अखौरी आदि के ऐतिहासिक प्रसंग लेकर लिखे गए उपन्यास निम्नकोटि के ही कहे जा सकते हैं। केवल ब्रजनन्दनसहाय का 'लालचीन' (१६१६) जिसमें गयासुद्दीन बलबन के एक गुलाम की कहानी वर्णित की गई है और मिश्रबन्धुओं का 'वीरमणि' ही (सन् १६१७) जिसमें अलाउद्दीन खिलजी की चित्तौड़ पर चढ़ाई को पृष्ठभूमि बनाकर एक काल्पनिक प्रसंग की रचना की गई है, उपन्यास-कला और ऐतिहासिकता की दृष्टि से यत्किंचित् महत्त्व के उपन्यास कहे जा सकते हैं। किन्तु तब तक प्रेमचन्द का 'सेवासदन' (१६१८ ई०) प्रकाशित हो चुका था, जिससे हिन्दी-उपन्यास आधुनिक स्तर पर उठ आया था।

इसी प्रकार बीसवीं शातब्दी के प्रारम्भ में जिन प्रेमाख्यानक तथा सामाजिक उपन्यासों की सृष्टि हुई उनका स्तर भी बहुत साधारण है।

प्रेमाख्यानक उपन्यासों में काव्य-रीति की शृंगार-भावना को अपनाकर नायिकाओं के हाव-भावों का रीतिबद्ध वर्णन करने की प्रवृत्ति अधिक है, जीवन की मार्मिक भावनाओं के चित्रण की नहीं। सामाजिक कुरीतियों के दृश्य उपस्थित करके स्त्री-पुरुष सभी को लम्बे-लम्बे उपदेश झाड़ने की प्रवृत्ति इतनी मुखर थी कि उसमें कला को कहीं स्थान न था। इसीलिए **किशोरीलाल गोस्वामी, श्यामजी शर्मा, शिवचन्द्र भरतिया, गिरजानन्द तिवारी, लक्ष्मीनरायण गुप्त, जगन्नाथ मिश्र, राम लाल, काशीप्रसाद** आदि अनेकानेक लेखकों के प्रेमाख्यानक उपन्यास और **गोपालराम गहमरी, मुरलीधर शर्मा, अमृतलाल चक्रवर्ती, शारदाप्रसाद शर्मा, लज्जाराम शर्मा, कमलाप्रसाद, लोचनप्रसाद पाण्डेय, अयोध्यासिंह उपाध्याय, बलदेवप्रसाद मिश्र, लालजीदास, गयाचरण त्रिपाठी, तोताराम शर्मा, महादेवप्रसाद मिश्र, ईश्वरी-प्रसाद शर्मा, रामनरेश त्रिपाठी, ओंकारनाथ, शिवनाथ शर्मा, जगतचन्द रमोला, योगेन्द्रनाथ, हरस्वरूप पाठक, ब्रजनन्दन सहाय** आदि दर्जनों लेखकों के सामाजिक उपन्यास आज बीते युग की वस्तु लगते हैं, जिनका कोई साहित्यिक मूल्य नहीं रहा।

इसके साथ ही, यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है कि हिन्दी में बँगला तथा दूसरी भाषाओं से उपन्यासों का अनुवाद करने की प्रवृत्ति भारतेन्दु के समय से ही चल पड़ी थी। भारतेन्दु के समकालीन **प्रताप-नारायण मिश्र** और **राधाचरण गोस्वामी** ने कई उपन्यासों के अनुवाद किये थे। फिर तो अनुवादों का क्रम कुछ ऐसा शुरू हुआ कि मौलिक लेखकों ने भी अनुवाद किये। **गदाधरसिंह** ने 'बंग-विजेता' और 'दुर्गेशनन्दिनी', **रामकृष्ण वर्मा** ने 'चित्तौर-चातकी', और **बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री** ने 'इला', 'प्रमिला', 'जया' और 'मधुमालती' आदि का अनुवाद किया। बाद में **बंकिमचन्द्र, रमेशचन्द्र दत्त, हाराणचन्द्र रक्षित, चण्डीचरण सेन, शरत्चन्द्र चट्टोपाध्याय, चारुचन्द्र** और **राखालदास बन्दोपाध्याय** और **रवीन्द्रनाथ ठाकुर**

के बँगला उपन्यासों, तथा अनेक उर्दू, मराठी, गुजराती और अंग्रेज़ी के श्रेष्ठ उपन्यासों के भी अनुवाद प्रकाशित हुए। इस संक्षिप्त सूची से भी यह अनुमान किया जा सकता है कि प्रेमचन्द से पहले हिन्दी में मौलिक उपन्यासों की अपेक्षा अनूदित उपन्यासों का स्तर ही अधिक ऊँचा था। इस वैषम्य का अन्त प्रेमचन्द ने आकर किया।

प्रेमचन्द (१८८०—१९३६ ई०) के उपन्यासों में विशाल जन-जीवन, विशेष रूप से उत्तर-भारत के किसान और मध्यवर्ग का जीवन, और उसकी बहुमुखी समस्याएँ कलात्मक रूप से प्रतिबिम्बित हुई हैं। उन्होंने जिस समय साहित्य-रचना आरम्भ की उस समय राष्ट्रीय जागरण उस मंज़िल में पहुँच गया था जब वातावरण में भी क्रान्ति, आन्दोलन और राष्ट्रीय एकता के सन्देश मँडराते फिरते हैं, उनकी प्रतिध्वनि सुनाई देती है और संघर्ष-पथ को अपनाने के संकेत दिखाई देते हैं। महान् प्रतिभाओं के प्रस्फुटन के लिए ऐसा अनुकूल वातावरण, जिसमें कला-कार सहज ही युग-जीवन और उभरते हुए युग-सत्य के साथ तादात्म्य स्थापित करके जीवन की वास्तविकता के मर्मस्थल तक पहुँच जाय और उसे कलात्मक अभिव्यक्ति दे सके, सामाजिक जीवन के इतिहास में विरल ही प्राप्त होता है। रवीन्द्र, शरत् और इकबाल की तरह प्रेमचन्द को भी अपनी प्रतिभा के पूर्ण विकास के लिए ऐसा ही अनुकूल राष्ट्र-जीवन का एकता-विधायक साम्राज्य-विरोधी वातावरण मिला था। हम पहले कह चुके हैं कि राष्ट्रीय जागरण की प्रारम्भिक अभिव्यक्ति धर्म और समाज-सुधार के आन्दोलनों के माध्यम से हुई थी। सामाजिक कुरीतियों पर खुलकर आक्रमण होने लगा था। दूसरी ओर अकाल और महामारियों की आवृत्ति आये-वर्ष होने लगी थी। जनता का असन्तोष नगरों में कट्टर राष्ट्रवाद और गाँवों में जमींदार-किसान संघर्षों के रूप में व्यक्त होने लगा था। और सन् १९०४-५ में लार्ड कर्ज़न की बंग-भंग की नीति की प्रतिक्रिया से बंगाल ही नहीं, सारे देश में साम्राज्य-विरोध की एक प्रचण्ड लहर दौड़ गई थी। देश के मंच पर एक नई शक्ति की

उद्भावना हो रही थी—जनता के संगठित साम्राज्य-विरोधी आन्दोलन की—जिसने विचार और भावना के नये सीमान्त खोल दिए। नगरों में आतंकवादी क्रान्तिकारियों के दल संगठित होने लगे और मेज़िनी और गैरीबाल्डी की उत्प्रेरक कथाएँ और जीवनियाँ पढ़ी जाने लगीं।

अंग्रेज़ी राज का शोषण-दमन तो था ही, सामाजिक जीवन में कुछ ऐसे परिवर्तन भी हो रहे थे, जिन्होंने सामन्ती जीवन-मूल्यों पर आघात किया था। परन्तु उनके स्थान पर जो नये समाज-सम्बन्ध और जीवन-मूल्य पैदा हो रहे थे उनकी आत्मा अति-व्यावसायिकता और स्वार्थपरता के कारण उतनी ही ज्यादा कलंकित थी। धर्म, दान, शील, सत्यनिष्ठा, संयुक्त पारिवारिक जीवन की निःस्वार्थ एकता आदि के स्थान पर एक महाजनी सभ्यता का पंजा मजबूत होता जा रहा था, जिसमें प्रेम, न्याय, भ्रातृ-प्रेम, पारिवारिक स्नेह आदि सभी कुछ धन की तुला पर तुलने लगा था, धोखाधड़ी, झूठ, खुशामद और बाह्याडम्बर ही जिसमें सांसारिक उन्नति के साधन बन गए थे। पारिवारिक जीवन, शिक्षालय, अदालत-कचहरी और दफ्तर—कोई भी इस महाजनी सभ्यता के संक्रमण से अछूते न बचे थे। हर तरफ़ व्यावसायिकता का बोलबाला था। उद्योग-धन्धों का कुछ-न-कुछ विकास तो हो ही चला था। औद्योगिक सभ्यता ने प्राचीन ग्रामीण जीवन की ऐकान्तिक निश्चलता, पारिवारिक व्यवस्था और शताब्दियों पुराने सामाजिक सौहार्द्र की भावना को छिन्न-भिन्न करना शुरू कर दिया था, और नगरों में क्या, गाँवों में भी वैयक्तिक सम्बन्धों का स्थान पैसा लेने लग गया था। व्यक्ति इस यान्त्रिक सभ्यता में मशीन का एक पुर्ज़ा-मात्र बनता जा रहा था। पारिवारिक सम्बन्धों के साथ-साथ मानवीय भावनाओं का भी दम घुटने लगा था।

भारतेन्दु के समय में भी इस परिवर्तन के लक्षण दिखाई देने लगे थे, किन्तु तब तक उनका विकराल पूँजीवादी रूप प्रकट न हो पाया था, जिससे उन्होंने और उनके समकालीन लेखकों ने एक ओर तो समाज-

सुधार की भावना से इन परिवर्तनों का स्वागत किया, दूसरी ओर पाश्चात्य सभ्यता की अनुकरण-वृत्ति को अपने तीखे व्यंगों का शिकार बनाया। लेकिन प्रेमचन्द के समय में समस्या का रूप इतना सरल न रह गया था। पूरे समाज और व्यक्ति के भौतिक और आध्यात्मिक जीवन में नये और पुराने मूल्यों का वैषम्य बढ़कर भयंकर रूप धारण कर चुका था। राष्ट्रीय जीवन की इस अन्तर और बाह्य प्रक्रिया के मध्य प्रेमचन्द की कला का विकास हुआ। उनका संवेदनशील हृदय चतुर्दिक फैली लूट-खसोट, पाखण्ड, अन्याय, असमता और क्षुद्रता को देखकर विद्रोही हो उठा। उन्होंने परिस्थितियों के निर्मम चक्र में पिस-घुसकर मनुष्य के जीवन और आत्मा को कुण्ठित, मलिन और विशृंखलित होते देखा, साथ ही इतिहास की उन उभरती हुई शक्तियों को भी पहचाना जो जीवन के प्रति मनुष्य की आस्था को नये आदर्शों, मानवीय जीवन-मूल्यों और लक्ष्यों का दरस देकर नया जीवन-दान ही नहीं दे रही थीं, बल्कि उसे नये संघर्ष-पथों पर भी अग्रसर कर रही थीं। प्रेमचन्द की सहानुभूति परम्परागत आदर्शवादी समाज-सम्बन्धों के प्रति थी, किन्तु उन्होंने एक सच्चे कलाकार की तरह समग्र भारतीय जीवन का यथार्थ चित्रण किया है। प्रारम्भ में उनकी यह प्रवृत्ति अवश्य थी कि वे कृत्रिम रूप से सामाजिक समस्याओं के आदर्शवादी समाधान अपने उपन्यासों में भी भर देते थे, किन्तु बाद में एक कलाकार की वस्तुनिष्ठा उनके आदर्शवादी विचारक पर विजय प्राप्त करती गई। 'प्रेमा' से लेकर 'गोदान' तक का उनका विकास वस्तुतः आदर्शवाद से यथार्थवाद तक की मंज़िल तय करने का इतिहास है।

अपनी इसी वस्तु-निष्ठा के कारण हिन्दी में प्रेमचन्द ही एक ऐसे उपन्यासकार हैं जो अपने समस्त पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती उपन्यासकारों की अपेक्षा प्रतिनिधि मानव-चरित्रों (Types) के निर्माण में सफल हुए हैं। उनके प्रतिनिधि मानव-चरित्र हर वर्ग और क्षेत्र के हैं। किसी भी उपन्यासकार या नाटककार की महानता की एक कसौटी यह भी होती

है कि उसने प्रतिनिधि मानव-चरित्रों (Types) के निर्माण में कितनी सफलता पाई है। प्रतिनिधि मानव-चरित्रों का निर्माण तभी सम्भव है जब लेखक में इतनी कलात्मक प्रतिभा हो कि वह पात्रों के रूप में अपने प्रतिरूप ही न गढ़े और उनसे मनचाहा व्यवहार और वार्तालाप ही न कराये, बल्कि अपनी कल्पना से जिन घटनाओं की सृष्टि करे उनका पात्र उनमें पड़कर स्वतन्त्र रूप से अपनी भूमिका खेले, पात्र की प्रतिक्रियाएँ, व्यवहार, वार्तालाप उसके जीवन की परिस्थितियों से निर्दिष्ट हों, लेखक की इच्छा-अनिच्छा से नियन्त्रित न हों। प्रेमचन्द के पात्र ऐसे ही सजीव, प्रतिनिधि मानव-चरित्र हैं। इनमें भारत के शोषित-पीड़ित किसान भी हैं और उनकी कमाई पर पलने वाले जमींदार और नवाब भी; गरीब चमार, जुलाहे, दस्तकार और क्लर्क भी हैं और महाजन और साहूकार भी; अन्धविश्वासी, निरीह धर्म के उपासक भी हैं और बगुला-भक्त पण्डे-पुरोहित भी; राजनीतिक कार्यकर्ता भी हैं और सरकारी अफ़सर-अहलकार और जी-हज़ूर भी। प्रेमचन्द ने एक कलाकार की निरपेक्षता से इन सब को जीवन-वास्तव की पृष्ठभूमि में रखकर चित्रित किया है और भारतीय जीवन के भीतर सत् और असत्, न्याय और अन्याय, शोषित और शोषक के बीच चलने वाले उस बहुमुखी संघर्ष की अनिवार्यता को उद्घाटित कर दिया है जो आधुनिक युग की सबसे बड़ी वास्तविकता है। किसी के चरित्र को उन्होंने अपनी ओर से मानवीय या दानवी बनाने की चेष्टा नहीं की, बल्कि एक सच्चे कलाकार की तरह प्रत्येक पात्र के उदात्त और अनुदात्त, उदार और क्षुद्र तथा सुन्दर और कुरूप पहलुओं को उभारना चाहा है। किन्तु फिर भी यदि पाठक की सहानुभूति एक पात्र के साथ होती है और असहानुभूति दूसरे के साथ, तो इसलिए कि उनके जीवन की परिस्थितियों ने उन्हें विपरीत ऐतिहासिक भूमिकाएँ खेलने को बाध्य कर रखा है। जो जमींदार है, वह अपनी सभ्यता के बावजूद शोषण करेगा ही और जो किसान है, वह अपनी निपट मूर्खता के बावजूद अन्न उपजाकर भौतिक मूल्यों की सृष्टि करेगा

ही, और उन मूल्यों से वंचित किये जाने पर प्रत्येक संवेदनशील हृदय में सहानुभूति और आक्रोश जगाएगा ही।

प्रेमचन्द का असली नाम नवाब राय था। इसी नाम से उन्होंने सन् १६०५ के लगभग उर्दू में लिखना शुरू किया था। उन्होंने उर्दू में सन् १६०५-६ ई० के लगभग 'जलवाए इसार' और 'हमखुर्मा व हम सबाब' दो लघु उपन्यास लिखे थे। बाद को ये उपन्यास हिन्दी में क्रमशः वरदान (१६२०) और प्रतिज्ञा (१६२६) नाम से प्रकाशित हुए। हिन्दी में उनका पहला उपन्यास 'सेवासदन' सन् १६१८ में प्रकाशित हुआ। इसके बाद 'प्रेमाश्रम' (१६२१), 'निर्मला' (१६२२) 'कायाकल्प' (१६२४) 'रंगभूमि' (१६२८) 'ग़बन' (१६३१) 'कर्मभूमि' (१६३२) और 'गोदान' (१६३६) में प्रकाशित हुए।

कला की दृष्टि से 'सेवासदन' ही प्रेमचन्द का पहला प्रौढ़ उपन्यास है। इसमें मध्यवर्गीय जीवन की विडम्बना का एक मार्मिक और यथार्थ चित्र है। एक स्कूल-मास्टर अपनी नियत और थोड़ी आमदनी से जीवन-निर्वाह करने में असमर्थ है, पर समाज में अपनी सफेदपोशी रखने के लिए बाध्य है। उस पर यौवन की उमंगें और विलास की लालसा भी तीव्र है। यह समस्या एक जर्जर पतित समाज में उसे और उसके परिवार को कितने भीषण आत्मदाह में जलाती है, किन-किन पतित मार्गों पर भटकाती है—नागरिक जीवन और संस्कृति के इस खोखलेपन का विशद चित्रण इस उपन्यास में हुआ है। 'प्रेमाश्रम' इस के विपरीत, ग्राम-जीवन की समस्याओं और संघर्षों का विशाल चित्र है। ग्राम-जीवन में अपनी सामाजिक उपयोगिता खोकर जमींदार या सामन्त-वर्ग किस प्रकार कुलीनता की लाज का रक्षक और शोषण, स्वार्थ और विलास का केन्द्र बन गया है तथा किसान शोषण की चक्की में पिसकर दरिद्र, निरीह और निर्जीव होकर भी अपनी संगठित शक्ति के बल पर इस विषम व्यवस्था को चुनौती देने के लिए तत्पर होता जा रहा है, इस उपन्यास की मूल कथा-वस्तु इस केन्द्रीय विचार पर आधारित है।

'रंगभूमि' प्रेमचन्द का सब से बड़ा उपन्यास है, किन्तु सर्वश्रेष्ठ नहीं। तो भी यह उनके प्रमुख उपन्यासों में से है। इसका घटनास्थल काशी और उसके पास का गाँव पाण्डेपुर है, स्वयं प्रेमचन्द जहाँ के निवासी थे। इसका प्रधान पात्र एक अन्धा, सूरदास, है।

पूँजीवाद का संक्रमण ग्रामों में किस प्रकार होता है, और वहाँ पर पूँजीवाद के पाँव रखते ही कितने पातक और अनाचर फैलते हैं, अत्याचार बढ़ते हैं और किसानों में किस तरह जागृति के चिह्न प्रकट होते हैं, इस उपन्यास की कथावस्तु इतनी ही है। किन्तु इस के माध्यम से उन्होंने न केवल पूँजीवाद के उत्थान और पतन का चित्र खींचा है बल्कि समग्र भारतीय जीवन का विशाल चित्र उपस्थित कर दिया है। हर वर्ग और जीवन के हर क्षेत्र के पात्रों का चित्रण इस में हुआ है।

'कायाकल्प' प्रेमचंद का सब से कमजोर उपन्यास है और उनकी अपनी परम्परा के विपरीत है, यद्यपि आध्यात्म की ओर भी उनका झुकाव था। 'कायाकल्प' में उन्होंने योगाभ्यास, पुनर्जन्म और कायाकल्प के आधिभौतिक पचड़ों को लेकर एक कहानी गढ़ने की कोशिश की है, किन्तु इस में उन्हें सफलता नहीं मिली। 'निर्मला' वृद्ध-विवाह के दुष्परिणाम और विमाता की मनोवैज्ञानिक समस्याओं का चित्र है। 'प्रतिज्ञा' की समस्या विधवा-विवाह से सम्बन्धित है। 'गबन' में प्रेमचन्द ने पुनः निम्न मध्यवर्ग की विडम्बनाओं का चित्रण किया—आभूषणों की लालसा, गृह-कलह, पतन। यह चित्र अपने-आप में सम्पूर्ण है। 'कर्मभूमि' साधारण कोटि का राजनीतिक उपन्यास है, जिसमें असहयोग-आन्दोलन से उमड़ी जनता की साम्राज्य-विरोधी भावना और संघर्ष का चित्रण है। परन्तु 'गोदान' प्रेमचन्द का ही नहीं हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसमें प्रेमचन्द ने पुनः ग्राम-जीवन की पृष्ठभूमि में जमींदार-किसान-समस्या का विशद् चित्रण किया है। किन्तु इस बार किसी आदर्शवादी समाधान को लेकर उन्होंने जमींदार-किसान संघर्ष के चित्र पर अन्त में पर्दापोशी नहीं कि, बल्कि जमींदार के निर्दय शोषण और किसान के

धरती, जीवन और उसकी मर्यादाओं से चिपटे रहने की अदम्य क्षमता का पूर्णतः यथार्थ चित्र दिया है, और होरी के रूप में भारतीय किसान के एक ऐसे प्रतिनिधि चरित्र का निर्माण किया है जो विश्वसाहित्य में भी बेजोड़ है। 'गोदान' सर्वथा एक यथार्थवादी उपन्यास है।

प्रेमचन्द की उपन्यास-कला ने जब प्रौढ़ता प्राप्त की, वह हमारे राष्ट्रीय जागरण के पूर्ण प्रस्फुटन का काल था। इसके बाद लगभग बीस वर्षों तक पहले महायुद्ध की समाप्ति से दूसरे महायुद्ध के आरम्भ तक साहित्य और कला के क्षेत्र में एक अभूतपूर्व रचनात्मक क्रियाशीलता और उन्मेष का दौर चला, जिसने हमारे गद्य और काव्य-साहित्यों के धरातल को ही ऊँचा नहीं उठाया, बल्कि सच्चे अर्थों में एक गौरवपूर्ण राष्ट्रीय काव्य, साहित्य और कला की परम्परा गढ़ी और उसके उदात्त मानववादी प्रतिमान स्थिर किये। विदेशी साम्राज्य की गुलामी से मुक्ति पाने के लिए सारी कौम विद्रोह और संघर्ष के पथ पर अग्रसर थी। जनता का साम्राज्य-विरोधी आक्रोश अक्सर गांधी जी द्वारा निर्दिष्ट असहयोग-आन्दोलन की मर्यादाओं का अतिक्रमण कर जाता था। साम्राज्यवादी दमन और भेदनीति के अमोघ अस्त्र भी जनता के जोश को कुचलने में समर्थ न हो रहे थे। ऐसे अदम्य उत्साह ने वातावरण में, स्वाभाविक है कि हमारे देश की विभिन्न भाषाओं के साहित्यों और कलाओं के क्षेत्र में युगावतारी प्रतिभाओं का विकास होता। उनके युगान्तरकारी विचारों की प्रतिध्वनि सहज ही जन-मानस में होती थी, जिससे श्रेष्ठ कला के विकास और पाठकों-द्रष्टाओं-श्रोताओं तक उनके मन्तव्यों और नये जीवन-मूल्यों को वस्तु-चित्रों, इतिहास और जीवन की भाषा में उपस्थित करने वाली रचनाओं का प्रेषण सहज-सम्भाव्य हो गया था। रवीन्द्र, शरत्, इकबाल, प्रेमचन्द, निराला, जोश, अवनीन्द्रनाथ, नन्दलाल बोस, जैमिनी राय, उदयशंकर, प्रसाद, पन्त, उस्ताद फैयाज खाँ आदि ऐसी ही प्रतिभाएँ उभरीं, जिन्होंने अपनी-अपनी कलाओं के माध्यम से न केवल समग्र जीवन को प्रतिबिम्बित

करने की कोशिश की, बल्कि नये जीवन-मूल्यों की सृष्टि करके मनुष्य के खण्डित व्यक्तित्व को सम्पूर्ण और उसके आध्यात्मिक जीवन को समृद्ध बनाने की भी कोशिश की। इस काल के मनुष्य की समग्र वेदना, पीड़ा, आशा-निराशा, हर्ष, उल्लास, कमजोरी, शहजोरी, इच्छा, आकांक्षा, स्वप्न और संकल्प उनकी कृतियों की मूर्त्त-भाषा में गुँथे हुए हैं। इसलिए आधुनिक साहित्य और कला के इतिहास में इस उत्थान का आत्यन्तिक महत्त्व है। राष्ट्रीय-जीवन को पूर्ण स्वतन्त्रता का लक्ष्य तो दीखने लगा था, और उसकी प्राप्ति के लिए सामान्य चेष्टा भी होने लगी थी, लेकिन अन्दर राष्ट्रीय-जीवन में पूरी एकता न थी। विभिन्न वर्ग, जातियाँ और स्वार्थ, इतिहास-चक्र को अपने मन-चाहे पथ पर मोड़ने में सचेष्ट थे, जैसे आज भी हैं। इस अन्तर्विरोध के परिणामस्वरूप साहित्य और कला के क्षेत्र में भी विभिन्न प्रवृत्तियों का जन्म हो चला था। प्रसाद-पन्त-निराला का 'छायावाद' और प्रेमचन्द का यथार्थवाद तो थे ही, छायावाद की विकृति मनोवैज्ञानिक-यथातथ्यवाद, व्यक्तिगत कुण्ठावाद और प्रतीकवाद के रूप में और यथार्थवाद की विकृति प्रकृतवाद (Naturalism) के रूप में होनी शुरू हो गई थी। ये प्रवृत्तियां यत्र-तत्र उभरकर सामने आने लगी थीं।

प्रेमचन्दकालीन क्रियाशीलता और उत्कर्ष के फलस्वरूप अनेक छोटी-बड़ी प्रतिभाएँ सजग होकर हिन्दी के उपन्यास-साहित्य का भण्डार भरने लगीं। इनमें **जयशंकर प्रसाद** (कंकाल, तितली, इरावती), **शिवपूजनसहाय** (देहाती दुनिया १६२५), **चतुरसेन शास्त्री** (हृदय की परख १६१८, व्यभिचार, अमर अभिलाषा, आत्मदाह, नीलमती, वैशाली की नगर-वधू आदि), **विश्वम्भर शर्मा 'कौशिक'** (माँ, भिखारिणी), **पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'** (दिल्ली का दलाल १६२७, चन्द हसीनों के खतूत, बुधुआ की बेटी, शराबी, घण्टा, सरकार तुम्हारी आँखों में), **राधिकारमण प्रसाद सिंह** (तरंग १६२१, राम-रहीम, पुरुष और नारी आदि), **वृन्दावनलाल वर्मा** (गढ़ कुण्डार, विराटा, की पद्मिनी, कुण्डली

चक्र, महारानी लक्ष्मीबाई, मृगनयनी आदि), **भगवतीप्रसाद वाजपेयी** (मीठी चुटकी १९२७, अनाथ पत्नी, त्यागमयी, प्रेम-विवाह, पतिता की साधना, दो बहनें, निमन्त्रण, चलते-चलते, आदि), **ऋषभचरण जैन** (वेश्या-पुत्र, गदर, अपराधी, मास्टर साहब आदि), **जैनेन्द्रकुमार** (परख १९३०, सुनीता, त्याग-पत्र, कल्याणी, सुखदा, विवर्त), **इलाचन्द्र जोशी** (घृणामयी, पर्दे की रानी, प्रेत और छाया, संन्यासी, निर्वासित और मुक्ति-पथ), **गोविन्दवल्लभ पंत** (प्रतिभा, मदारी, प्रगति की राह आदि), **सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'** (अप्सरा १९३१, अलका, लिली, निरूपमा, प्रभावती, बिल्लेसुर बकरिहा, कुल्ली भाट, चोटी की पकड़) आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

प्रेमचन्द के अन्तिम दिनों या बाद के अनेक उपन्यासकारों में प्रमुख नाम ये हैं : **भगवतीचरण वर्मा** (तीन वर्ष, चित्रलेखा, टेढ़े-मेढ़े रास्ते, आखिरी दाँव), **सियारामशरण गुप्त** (नारी १९३८, गोद) **सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'** (शेखर : एक जीवनी, नदी के द्वीप), **यशपाल** (दादा कामरेड, देश-द्रोही, दिव्या, पार्टी कॉमरेड, मनुष्य के रूप), **राहुल सांकृत्यायन** (जय यौधेय, सिंह सेनापति, मधुर स्वप्न), **उपेन्द्रनाथ 'अश्क'** (सितारों के खेल, गिरती दीवारें, गरम राख), **पहाड़ी** (सराय, चलचित्र), **हजारीप्रसाद 'द्विवेदी'** (बाणभट्ट की आत्म-कथा), **अंचल** (चढ़ती धूप, मरु-प्रदीप), **अनूपलाल मंडल** (निर्वासित, समाज की वेदी पर, गरीबी के दिन, अभिशाप आदि), **उदयशंकर भट्ट** (वह जो मैंने देखा, नये मोड़), **रामचन्द्र तिवारी** (सागर, सरिता, अकाल, सोना और नर्स), **रांगेय राघव** (घरौंदे, मुर्दों का टीला, सीधे-सादे रास्ते, चीवर आदि)।

इनमें से 'प्रसाद' और 'कौशिक' को छोड़कर और सभी लेखक जीवित हैं, और उनका रचना-क्रम जारी है। यह सूची केवल महत्त्वपूर्ण उपन्यासकारों और उपन्यासों की है। प्रेमचन्दकालीन तथा बाद के उपन्यासों का धरातल प्रेमचन्द से पूर्व के उपन्यासों की तुलना में

सामान्यतः ऊँचा रहा है। विषय-वस्तु, रचना-तन्त्र, शैली और भाषा, सभी दृष्टियों से ये उपन्यास प्रथम महायुद्ध से पहले के उपन्यासों से श्रेष्ठ हैं।

जयशंकर प्रसाद का 'कंकाल' एक महत्त्वपूर्ण कृति है। उसमें उन्होंने निर्भीकता से स्त्री-पुरुष के प्रेम की एक मौलिक समस्या का मार्मिक उद्घाटन किया है। विवाह की पवित्रता उसकी भावना में है, केवल सामाजिक बंधन में नहीं, अतः उसका आधार भावना ही हो। इस प्रकार 'कंकाल' भारतीय नारी-जीवन की दुर्दशा और कुण्ठा पर गहरा विद्रूप है। तारा दलित नारी-जाति के विद्रोह की प्रतीक है। तारा के शब्दों में, "मैंने केवल एक अपराध किया है—वह यही कि प्रेम करते समय साक्षी इकठ्ठा न किया......पर किया प्रेम ही।" यह एक सोद्देश्य उपन्यास है, पर साथ ही कलात्मक भी। इसकी शैली प्रसाद के नाटकों की शैली से भिन्न, यथार्थ चित्रण के अधिक निकट है, यद्यपि भाषा अलंकृत अवश्य है। प्रसाद के अन्य उपन्यास 'तितली' और 'इरावती' इतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' उपन्यास-लेखन में प्रेमचन्द के अनुयायी थे। परन्तु न उपन्यासकार की हैसियत से और न कहानी-लेखक की हैसियत से ही वह प्रेमचन्द की ऊँचाई तक पहुँच सके। उनके उपन्यास 'माँ' और 'भिखारिणी' में प्रेम, त्याग और मातृत्व की भावना का चित्रण हुआ है। उनके संवाद स्वाभाविक तथा दैनिक बोलचाल की भाषा से लिये गए हैं। फिर भी कुल मिलाकर उपन्यास साधारण हैं।

जीवित लेखकों में प्रेमचन्द के समय से लिखते आने वाले चतुरसेन शास्त्री, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', वृन्दावनलाल वर्मा, जैनेन्द्रकुमार, इलाचन्द्र जोशी और भगवतीचरण वर्मा तथा प्रेमचन्द्र के बाद के 'अज्ञेय', यशपाल, उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ही वर्तमान हिन्दी उपन्यासकारों की प्रथम पंक्ति में गिने जाते हैं, यद्यपि भगवती प्रसाद वाजपेयी,

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद द्विवेदी और रांगेय राघव के नाम भी इस सम्बन्ध में उतने ही उल्लेखनीय हैं। इन रचनाकारों में उपन्यास-लेखन की कोई एक ही परिपाटी नहीं मिलती, और न प्रवृत्ति ही। साथ ही, इनमें से हरेक ने जीवन के भिन्न-भिन्न पहलुओं का आकलन करने के लिए न्यूनाधिक मात्रा में उपन्यास-कला को विकसित या विकृत भी किया है और उसे नई-नई दिशाओं में मोड़ा है और अपने प्रयोगों द्वारा नये-नये औपन्यासिक क्षेत्रों का परिशोषण किया है और कर रहे हैं। अतः उनकी कृतियों का साधारण प्रवृत्यात्मक परिचय ही दिया जा सकता है, पूरा मूल्यांकन अभी सम्भव नहीं, यद्यपि इतना निर्विवाद है कि इनमें से किसी की प्रतिभा प्रेमचन्द को नहीं छू पाई, और न किसी ने 'गोदान' के पैमाने पर समग्र भारतीय जीवन का विशाल चित्र उपस्थित करने का प्रयत्न ही किया।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' वास्तव में उग्र प्रतिभा लेकर साहित्य में आये। आपने फ्रान्सीसी उपन्यासकार ज़ोला की तरह समाज के कुत्सित अंगों और वर्जित पहलुओं का निर्भीक होकर चित्रण किया। वेश्यावृत्ति तथा सभ्य समाज के बाह्यावरण के नीचे छिपी अन्य घृणित तथा घातक कुरीतियों को आपने अपनी आवेगपूर्ण, धड़ल्लेदार शैली में उघाड़कर सामने रख दिया। आलोचकों और सम्पादकों ने आप पर 'घासलेटी' (अर्थात् अश्लील) साहित्य की रचना करने का आरोप लगाया। वास्तव में यह अश्लीलता तो तथाकथित थी। परन्तु आपके व्यंग्यों की चोट सोद्देश्य थी इसलिए आपकी रचनाएँ जनता में हाथोंहाथ बिकीं। आपके उपन्यासों में 'बुधुआ की बेटी', जिसमें एक अछूत बालिका के जीवन का करुण चित्रण है, सम्भवतः आपकी सबसे अच्छी कृति है।

चतुरसेन शास्त्री ने भी पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' की तरह समाज की कुत्सित प्रवृत्तियों और परोक्ष में चलने वाले भ्रष्टाचारों के बीभत्स चित्र दिये हैं। उदाहरण के लिए 'हृदय की प्यास' में आपने विधवा-

रामप्रसाद निरंजनी और दौलतराम के बाद उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में हिन्दी-गद्य के प्रारंभिक उन्नायकों में मथुरानाथ शुक्ल, सदासुखलाल, इंशा, लल्लूलाल और सदल मिश्र के नाम गिनाये जाते हैं। इनमें से सैयद इंशा अल्ला खां को हम हिन्दी-गद्य परम्परा के विकास में सम्मिलित करना उचित नहीं समझते। उर्दू-गद्य की विकास-परम्परा में ही वस्तुतः उनका स्थान है। इंशा उर्दू के प्रसिद्ध शायर थे और शाहजहानाबाद (दिल्ली) की उर्दू को ही भाषा का प्रमाण मानते थे, और यद्यपि अपनी 'रानी केतकी की कहानी' (रचना-काल १७९८ से १८०३ ई० के बीच) में उन्होंने मौज में आकर भाषा-संबंधी एक नया प्रयोग करना चाहा, अर्थात् अरबी-फ़ारसी, संस्कृत, ब्रज, अवधी आदि सब भाषाओं के शब्दों से दामन बचा कर ठेठ खड़ी-बोली में अपनी कहानी कहने का बीड़ा उठाया, लेकिन फिर भी उनकी भाषा पर फ़ारसी ढंग के उर्दू वाक्य-विन्यास का काफ़ी प्रभाव है, जिसमें हिन्दी के कर्त्ता-कर्म-क्रिया के क्रम में उलट-फेर हो जाता है। रानी केतकी की कहानी की भाषा अपनी प्रवृत्ति से सरल हिन्दी की अपेक्षा सरल उर्दू के अधिक निकट है। बाक़ी लेखकों में से मथुरानाथ शुक्ल और सदासुखलाल ने स्वान्तः सुखाय लिखा, किसी के आदेश पर नहीं, लेकिन लल्लूलाल और सदल मिश्र ने फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष जॉन गिलक्राइस्ट के आदेश पर हिन्दी में अनुवाद प्रस्तुत किये। इन चारों का रचना-काल लगभग एक ही है, इस बात ने भी हमारे संग्रहवादी इतिहासकारों को बड़ी हद तक व्यर्थ की ऊहापोह में आज भी फंसा रखा है। आधुनिक हिन्दी-गद्य का जन्म अंग्रेज़ों के आदेश पर और उनके तत्वावधान में हुआ या स्वतंत्र रूप से, इस प्रश्न की खोजबीन करने और सर जार्ज ग्रियर्सन के इस दावे का खंडन करने के लिए कि "इस प्रकार की भाषा भारतवर्ष में पहले कहीं नहीं थी। इसलिए जब लल्लूलाल ने प्रेमसागर लिखा, उस समय उन्होंने एक बिल्कुल नई भाषा ही गढ़ी," उन्होंने व्यर्थ ही सैकड़ों पन्ने काले किये हैं। गत शताब्दी में जब सर सैयद अहमद खाँ ने हिन्दी

का विरोध किया था और अंग्रेज़ी सरकार की दुर्नीति के विरुद्ध देश-भर में हिन्दी आन्दोलन चल पड़ा था, उस समय इस बहस का कोई मूल्य हो सकता था, लेकिन आज इसका विशेष मूल्य नहीं रहा। हिन्दी-आन्दोलन और हिन्दी-साहित्य का विकास दो भिन्न चीज़ें हैं। इतिहास में हिन्दी-आन्दोलन का उल्लेखमात्र पर्याप्त होना चाहिए। स्मरण रहे कि कोई एक व्यक्ति किसी भाषा के गद्य का जनक नहीं होता, और न किसी के आदेश पर कोई व्यक्ति या व्यक्तियों का समूह एक बिल्कुल नई भाषा ही गढ़ सकता है। इसलिए इस प्रसंग में केवल इतना जानना ही पर्याप्त है कि एक ओर मुंशी सदासुखलाल 'नियाज़' (सन् १७४६–१८२४ ई०) ने, जो उर्दू और फ़ारसी के भी लेखक और शायर थे, उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में, 'सुख सागर' के नाम से श्रीमद्भागवत का हिन्दी में अनुवाद किया, और लगभग इसी समय मथुरादास ने 'पंचांग दर्शन' लिखा। इन दोनों लेखकों की हिन्दी रामदास निरंजनी के 'योगवासिष्ठ' जैसी ही थी, परिमार्जित और व्यवस्थित, यद्यपि उसमें यत्र-तत्र पंडिताऊ प्रयोग भी मिलते हैं। दूसरी ओर लगभग इसी समय (सन् १८०० ई०) कलकत्ते में अंग्रेज़ों ने फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना की। अपनी राजकीय आवश्यकताओं के कारण उन्हें यहाँ की भाषाएं सीखने-सिखाने की ज़रूरत हुई। मुसलमानी दरबारों के प्रभाव से उस समय खड़ी बोली का उर्दू-रूप ही प्रधानतः अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार और उत्तर-भारत के शिष्ट-जनों की भाषा बना हुआ था। हिन्दी का व्यवहार बहुत सीमित था, यद्यपि उसकी सम्भावनाएं अपरिसीमित थीं, क्योंकि उर्दू की अपेक्षा हिन्दी अन्य प्रादेशिक भाषाओं के अधिक निकट थी। अंग्रेज़ों ने इस संभावना को देखा और अपने शासन की सुविधाओं का विचार करके उन्होंने एक ओर उर्दू को संरक्षण-प्रोत्साहन दिया तो दूसरी ओर हिन्दी को भी थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़ाया। इससे उनकी दुरंगी नीति द्वारा शासन करने क पद्धति को भी भाषा के प्रश्न पर हिन्दू-मुसलमान का साम्प्रदायिक द्वेष फैलाने का पूरा अवसर मिल गया। अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना से पश्चिम

की आधुनिक औद्योगिक संस्कृति के सम्पर्क में आने के कारण उस ऐतिहासिक प्रक्रिया का सूत्रपात होना अनिवार्य हो गया था, जिसकी परिणति राष्ट्रीय जागरण और विभिन्न भाषाओं के आधुनिक गद्य-पद्य-साहित्यों के विकास में हुई। फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष डा० जॉन गिलक्राइस्ट की देखरेख में और उनके आदेश पर लल्लूलाल (सन् १७६३–१८२५ ई०) ने यदि भागवत के दशम स्कन्ध की कथा को लेकर ब्रज-मिश्रित, कथावाचकों जैसी अनियन्त्रित, अव्यवस्थित और उखड़ी-पुखड़ी भाषा में 'प्रेम सागर' की रचना न की होती, या 'बैताल पचीसी', 'सिंहासन बत्तीसी', 'शकुन्तला नाटक' और 'माधोनल' आदि के सरल हिन्दी में अनुवाद न किये होते और पंडित सदल मिश्र ने 'चन्द्रावती' और 'नासिकेतोपाख्यान' हिन्दी में न लिखे होते, तो भी देश में ऐसी परिस्थितियों और शक्तियों का जन्म हो रहा था, जो शिक्षित और प्रबुद्ध वर्ग के एक भाग को हिन्दी की ओर अनिवार्यतः मोड़तीं ही। इसलिए हिन्दी-गद्य के जनक की टोह के लिए सदासुखलाल, इंशा, लल्लूलाल या सदल मिश्र के जीवन-वृत्तों की खोज-बीन में हमारे इतिहासकारों को व्यर्थ समय नहीं गंवाना चाहिए। रामप्रसाद निरंजनी, सदासुखलाल, इंशा, मथुरादास के हिन्दी अनुवादों ने या फोर्ट विलियम कालेज ने हिन्दी गद्य और साहित्य के विकास में जो योग और प्रोत्साहन दिया, वह उन सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों की तुलना में नगण्य है, जिनकी आवश्यकताओं से राष्ट्रीय जागरण की लहर फैली और उन देशव्यापी सुधार-आन्दोलनों का जन्म हुआ जिन्होंने राष्ट्रीय भावना से प्रेरित होकर देश की राजनीतिक एकता की नींव दृढ़ करने के लिये उर्दू के साथ-साथ, और अधिकतर उसकी अपेक्षा में, हिन्दी को ही प्रचार और साहित्य-रचना का माध्यम चुना।

हिन्दी-प्रचार में जिन लोगों ने योग दिया उनमें ईसाई-धर्मोपदेशकों का नाम सबसे पहले उल्लेखनीय है। ईसाई पादरी डा० विलियम कैरे सन् १७९३ में हिन्दुस्तान आये और उन्होंने मालाबार में एक गिरजाघर

की स्थापना करके गांवों में ईसाई-धर्म के उपदेश देना आरम्भ किया। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने जब इस कार्य में बाधा डाली तो उन्होंने अपने साथियों के सहित बंगाल के सिरामपुर में आकर ईसाई मिशन की स्थापना की। इस स्थान से उन्होंने भारत की २७ भाषाओं में इंजील का अनुवाद कराके प्रकाशित किया। हिन्दी में स्वयं विलियम कैरे ने मुंशी सदासुखलाल की परिमार्जित, संस्कृत-निष्ठ शैली में इंजील का अनुवाद किया, जो सन् १८१६ में प्रकाशित हुआ। इसके बाद ईसाई मिशन देश के अन्य स्थानों में भी खुले, और उनकी ओर से ईसाई-धर्म और शिक्षा-सम्बन्धी पुस्तकों का, देश की अन्य भाषाओं की तरह, हिन्दी में प्रकाशन होना शुरू होगया। अनेक स्थानों पर अंग्रेज़ी शिक्षा के लिए स्कूल खुल गये थे और पाठ्य-पुस्तकों की मांग बढ़ गई थी। ईसाइयों ने आगरे में सन् १८३३ के लगभग 'स्कूल बुक सोसाइटी' क़ायम की और पं० रतनलाल, ओंकार भट्ट, प्रियानाथ, बद्रीलाल शर्मा आदि हिन्दी के जानकार लोगों से विविध विषयों पर शिक्षा-संबंधी पुस्तकें और संग्रह तैयार करवाये।

अंग्रेज़ी राज्य के प्रारंभ में कचहरी की भाषा फ़ारसी ही रही, लेकिन शिष्ट-वर्ग में फ़ारसी का व्यापक प्रचलन होने पर भी सर्वसाधारण इस भाषा से अपरिचित थे। शासन की सुविधाओं को ध्यान में रखकर कम्पनी-सरकार ने जुलाई सन् १८३६ में एक ऐक्ट द्वारा फ़ारसी को हटा कर प्रान्तीय भाषाओं को कचहरी की भाषा का स्थान दे दिया। बंगाल में बंगाली की तरह युक्त प्रान्त में फ़ारसी और नागरी लिपि में हिन्दी बोली ही प्रथमतः कचहरी की भाषा बनायी गयी। लेकिन कम्पनी इस नीति पर अधिक दिनों तक दृढ़ न रह सकी और एक वर्ष बाद ही (सन् १८३७ ई०) उत्तरी-भारत के सब दफ्तरों की भाषा उर्दू कर दी गई। संयुक्त-प्रान्त और उत्तर-भारत में उर्दू के प्रति अंग्रेज़ों का यह पक्षपात भारत छोड़ने के समय तक (सन् १९४७ ई०) लगातार बना रहा, यद्यपि सर सैयद अहमद खां के हिन्दी-विरोध की प्रतिक्रिया के रूप में

उत्पन्न हिन्दी-आन्दोलन की व्यापकता से डर कर अंग्रेज़ सरकार ने सन् १८८२ ई० में बिहार और मगध-प्रदेश में उर्दू को हटाकर हिन्दी को कचहरी की भाषा मान लिया था और सन् १६०१ में संयुक्त-प्रान्त के अदालती अहलकारों के लिए भी नागरी-लिपि का जानना अनिवार्य कर दिया था। लेकिन यह बहुत मामूली रियायत थी, क्योंकि व्यवहारतः कचहरी की भाषा अन्त तक उर्दू ही बनी रही।

अंग्रेज़ों ने अपनी नीति से भाषा के क्षेत्र में भी हिन्दू-मुसलमान का प्रश्न उठा दिया था। इसलिए जब सन् १८५५ में शिक्षा का स्थायी प्रबन्ध होने लगा उस समय उर्दू और हिन्दी के पक्ष में अलग-अलग आन्दोलन उठ खड़े हुए। यह आन्दोलन तब से किसी न किसी रूप में अंग्रेज़ों से स्वतन्त्रता मिलने तक चलते रहे हैं और अब भी कभी-कभी उभर पड़ते हैं। इन आन्दोलनों ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच जितनी कटुता और वैमनस्य की भावना पैदा की उतनी और किसी आन्दोलन ने नहीं की। वास्तव में यह हमारे सांस्कृतिक और राष्ट्रीय इतिहास का कलंक-पूर्ण और दुखदायी प्रसंग है। राष्ट्रीय चेतना उस समय तक इतनी व्यापक नहीं हुई थी कि वह इन आन्दोलनों को अपनी-अपनी भाषाओं के माध्यम से केवल रचनात्मक कार्य में लगे रहने ती प्रेरणा देती और संकीर्ण साम्प्रदायिक पथ पर भटक जाने से रोकती। हम पहले कह चुके हैं कि भाषा का कोई धर्म नहीं होता, लेकिन ये आन्दोलन इस ग़लत आधार को लेकर ही पनपे और उनकी काली छाया अभी तक विद्वानों और इतिहासकारों के हृदय से मिट नहीं पायी है। जो भी हो हम हिन्दी-आन्दोलन के रचनात्मक कार्य तक ही अपने को सीमित रखेंगे।

काशी के राजा शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' (सन् १८२३–१८६५ ई०) और आगरे के राजा लक्ष्मणसिंह (सन् १८२६–१८६६ ई०) ने हिन्दी का पक्ष ग्रहण किया। राजा शिवप्रसाद की साक्षी के अनुसार उर्दू ही उस समय के शिष्ट समुदाय की भाषा थी, और कचहरी की भाषा होने के कारण वे चाहते थे कि हिन्दू भी इसे सीख कर बड़े बड़े ओहदे

प्राप्त करें। इसलिए उनका विरोध उर्दू भाषा से नहीं था, प्रत्युत संस्कृत के विद्वान् होते हुए भी उन्होंने अपनी पुस्तकों में अधिकतर फ़ारसी-बहुल भाषा का ही प्रयोग किया है। उनका विरोध केवल फ़ारसी-लिपि से था। वे चाहते थे कि फ़ारसी-लिपि के साथ-साथ शिक्षालयों में नागरी लिपि का भी समान व्यवहार हो। सर सैयद अहमद खाँ और उनके साथी नागरी लिपि और हिन्दी भाषा के कट्टर विरोधी थे और हिन्दी को गँवारू भाषा कह कर पुकारते थे। लेकिन राजा शिवप्रसाद के प्रयत्नों से कम्पनी-सरकार को स्कूलों में हिन्दी की शिक्षा को स्थान देना पड़ा। उन्होंने पंडित बंशीधर, श्रीलाल और बद्रीलाल आदि से हिन्दी में अनेक पाठ्य-पुस्तकें लिखवाई और स्वयं भी लगभग २२ पुस्तकें लिखीं, जिनका साहित्यिक मूल्य साधारण है। 'राजा भोज का सपना' और 'मानवधर्म सार' को छोड़कर अधिकांश पुस्तकों की भाषा उर्दू है, केवल यत्र-तत्र संस्कृत के कुछ शब्दों की पुट भर है। राजा साहब ने युक्त-प्रान्त के शिक्षा-विभाग में इन्सपेक्टर-पद पर नियुक्त होने से लगभग दस वर्ष पूर्व सन् १८४६ ई० में काशी से 'बनारस अख़बार' निकाला था, जिसकी भाषा भी वस्तुतः उर्दू ही थी।[1]

राजा लक्ष्मण प्रसाद सिंह राजा शिवप्रसाद सिंह की उर्दू-परस्ती के विरोधी थे। वे हिन्दी भाषा में फ़ारसी-अरबी के प्रचलित शब्दों तक का प्रयोग अनुचित समझते थे। सब से पहले उन्होंने ही यह आवाज़ उठाई कि हिन्दी और उर्दू दो पृथक्-पृथक् भाषाएँ हैं और किसी भी कृत्रिम ढंग से उन्हें एक बनाने की चेष्टा असफल रहेगी। स्वयं उन्होंने 'योग-

---

१. यह पत्र हिन्दी का तीसरा पत्र था। सबसे पहला पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' ३० मई सन् १८२६ को कलकत्ते से निकला था, जिसके सम्पादक और संचालक कानपुर के युगलकिशोर शुक्ल थे। सन् १८२९ में दूसरा पत्र राजा राममोहन राय का 'बंगदूत' निकला जो अंग्रेज़ी, बंगला, हिन्दी, फ़ारसी चार भाषाओं में एक साथ छपता था।

वाशिष्ठ' और 'प्रेमसागर' की भाषा को अपने लिए प्रमाण माना। फ़ारसी के प्रभाव से हिन्दी को मुक्त करने के लिए उन्होंने सन् १८६२ में आगरे से 'प्रजा हितैषी' नाम का पत्र निकाला। हिन्दी के लिए आन्दोलन करने के अतिरिक्त उन्होंने हिन्दी साहित्य को यद्यपि कोई मौलिक कृति नहीं दी, लेकिन सन् १८६३ में कालिदास के 'अभिज्ञान-शाकुन्तल', सन् १८७८ में 'रघुवंश, और सन् १८८२-४ में 'मेघदूत' का अनुवाद करके एक प्रकार से बहुत कुछ दिया। विशेषकर 'शकुन्तला नाटक' ने आगे चलकर भारतेन्दु और समकालीन लेखकों को हिन्दी में मौलिक साहित्य के सृजन की प्रेरणा दी। भाषा-प्रयोग कहीं-कहीं बेढंगे और पुराने अवश्य हैं। लेकिन उन्होंने ही हिन्दी-गद्य को पहली बार पुष्ट और व्यवस्थित साहित्यिक रूप दिया।

इन दोनों राजाओं के उद्योग से हिन्दी का कार्य जिस प्रकार संयुक्त-प्रान्त (अब उत्तर-प्रदेश) में चलने लगा, उसी तरह पंजाब में हिन्दी के लिए उनके समकालीन बाबू नवीनचन्द्र राय और श्रद्धाराम फुल्लौरी ने डटकर आन्दोलन किया। नवीनचन्द्र राय ने ब्रह्म-समाज के उदार सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए समय-समय पर हिन्दी में कई पत्रिकाएँ निकालीं और अनेक पाठ्य-पुस्तकें भी लिखीं। पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी अपने समय के प्रसिद्ध कथावाचक और वक्ता थे और आर्य-समाज के विरोध में सनातन-धर्म के समर्थक थे। वह पंजाबी और उर्दू में भी लिखते थे, लेकिन अपनी मुख्य पुस्तकें उन्होंने हिन्दी में ही लिखीं। उनकी सिद्धान्त-पुस्तक 'सत्यामृत प्रवाह' में धर्म-सम्बन्धी विषयों में भी उनकी स्वतन्त्र विचारणा के दर्शन होते हैं। उन्होंने सन् १८७६ ई० में 'भाग्यवती' नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी लिखा, जो उन दिनों काफ़ी प्रशंसित हुआ।

रचनात्मक-क्षेत्र में इस व्यापक हिन्दी-आन्दोलन की देन उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक तक अधिकतर हिन्दी-गद्य-लेखन का एक निश्चित ढर्रा बनाने और हिन्दी में विद्यार्थियों के लिए पाठ्य-पुस्तकें और

संग्रह तैयार करने और हिन्दी-चेतना फैलाने तक ही सीमित रही। उन्होंने उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय जन-मानस को नये विचारों और भावनाओं से उदबुद्ध करके राष्ट्रीय जाग्रति नहीं फैलायी। यह कार्य हमारे राष्ट्रीय जागरण के अग्रदूत [illegible] स्वामी दयानन्द सरस्वती के नेतृत्व में क्रमशः चलने वाले [illegible] 'आर्य-समाज' जैसे सुधार-आन्दोलनों ने किया। ईसाइयों के धर्म-प्रचार और अंग्रेज़ी-शिक्षा के द्वारा पाश्चात्य सभ्यता और औद्योगिक संस्कृति के सम्पर्क में आने से भारतीय समाज की कुरीतियों, देश की पराधीनता और अंग्रेज़ी राज्य के आर्थिक शोषण के प्रति मध्यवर्ग के पढ़े-लिखे लोगों का सजग हो जाना स्वाभाविक ही था। राजा राममोहन राय युग की चुनौती सुनकर उपनिषद और वेदान्त का ब्रह्म-तत्व लेकर उठ खड़े हुए। उन्होंने सती-प्रथा, मूर्त्ति-पूजा, तीर्थाटन, जाति-पांति, छूआ-छूत को अलग करके शुद्ध ब्रह्मोपासना के प्रचार के लिए 'ब्रह्म-समाज' की स्थापना की और सन् १८१६ में वेदान्त-सूत्रों का स्वतन्त्र भाष्य करके हिन्दी में छपाया। बंगाल में इस आन्दोलन का पुराण-पन्थी लोगों ने घोर विरोध भी किया, लेकिन कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर के पितामह राजा द्वारिकानाथ ठाकुर आदि की सहायता से वे सारे देश में प्रगतिशील चेतना फैलाने में समर्थ हुए। राजा राममोहन राय की दृष्टि उस युग के सभी सुधारवादियों से अधिक व्यापक, उदार और आधुनिक थी। पाश्चात्य सभ्यता और ईसाई-धर्म के प्रति उनका अन्ध-विरोध न था। वे भारतीयता की रक्षा करते हुए समन्वयवादी थे, और पाश्चात्य संस्कृति और जीवन-प्रणाली के प्रगतिशील तत्वों का अपनी संस्कृति में समाहार कर लेने के पक्षपाती थे। उनमें एक साम्प्रदायिक पुनरुत्थानवादी की संकीर्णता और दुराग्रह न था। वे केवल नव-जीवन के अभिलाषी थे, और एक युग-द्रष्टा की तरह इतिहास की गति-दिशा को पहचानते थे। इसीलिए उन्होंने विचार-जगत् में जो क्रान्ति की, उसमें अनेक नवोदित प्रतिभाओं को अपने हृदय का उदात्त सन्देश मिला। लेकिन स्वामी दयानन्द सरस्वती (सन् १८२५-

१८६४ ई०) की दृष्टि इतनी व्यापक, उदार और उदात्त न थी। उनके आन्दोलन में खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति अधिक थी, और दूसरे धर्मों और सम्प्रदायों के प्रति घोर अश्रद्धा और विद्रूप का भाव था। आर्य-समाज के हिन्दू-पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण के कारण पंजाब और पश्चिमी संयुक्त-प्रान्त में हिन्दी-आन्दोलन को बल तो अवश्य मिला, लेकिन साम्प्रदायिक कटुता और संकीर्णता को भी कम प्रोत्साहन नहीं मिला।

संक्षेप में हिन्दी-गद्य और पद्य-साहित्य की यह पूर्व-पीठिका है। सन् १८५७ के राजद्रोह में भारतीय जनता स्वाधीनता-संग्राम की प्रथम दीक्षा ले चुकी थी। नये विचार और नयी भावनाएँ फैल रही थीं। देश की अनेक भाषाओं में, विशेषकर बंगला, तमिल और मराठी में नयी बलशाली प्रतिभाओं ने प्रस्फुटित होकर अपने-अपने साहित्यों का नव-संस्कार शुरू कर दिया था। उनके रचे साहित्य में युग-जीवन की व्यापक समस्याओं का कलात्मक चित्रण मिलता है। उनकी एकताबोधिनी दृष्टि उदात्त और सर्वजनीन थी। जहाँ उन्होंने हिन्दू-समाज की जर्जर अवस्था पर क्षोभ प्रकट किया, वहाँ किसी अन्य धर्म, भाषा या जाति का साम्प्र-दायिक द्वेष-भावना से तिरस्कार नहीं किया। उर्दू में ग़ालिब जैसे महा-कवि ने काव्य को विचारों की वह महानता, भावों की गहराई और सौन्दर्य की गरिमा प्रदान करदी थी जो विश्व-साहित्य में अनुपम है, और जिस पर कोई भी देश या जाति चिरकाल तक गर्व कर सकती है। हिन्दी में ऐसी मौलिक प्रतिभाओं की प्रतीक्षा थी जो साहित्य के विभिन्न रूप-विधानों का विकास करके, उनके माध्यम से युग-जीवन की वास्तविकता का कलात्मक अंकन करतीं। ऐसे समय में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, बालमुकुन्द गुप्त, प्रतापनारायण मिश्र, बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', श्रीधर पाठक आदि का हिन्दी के रंगमंच पर उदय हुआ।

ये नाम हिन्दी-साहित्य के इतिहास में विशेषरूप से आदरणीय हैं, क्योंकि हिन्दी में मौलिक नाटक, कविता, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना आदि साहित्य के विविध रूप-विधानों का जन्म और प्रारम्भिक

विकास इन महानुभावों के ही कृतित्व का परिणाम है। तभी से हिन्दी-साहित्य की अखंड परम्परा शुरू होती है, अर्थात् हिन्दी-साहित्य का इतिहास शुरू होता है। किन्तु फिर भी इस बात को साहस-पूर्वक कहने की ज़रूरत है कि इनमें से कोई भी असाधारण प्रतिभा का साहित्यकार नहीं था। सभी साधारण प्रतिभा के लोग थे, साहित्यकार से अधिक सुधारक-प्रचारक और हिन्दी-आन्दोलनकारी थे। भारतेन्दु में औरों की अपेक्षा संगठन करने की क्षमता अधिक थी, जिससे उनके समकालीन उन्हें अपना अग्रणी और नेता मानते थे। इन प्रचारकों की दृष्टि सीमित थी और अनेक अन्तर्विरोधों से भरी हुई थी। भारतेन्दु और उनके साथी आर्य-समाज के पक्षपाती न थे, लेकिन आर्य-समाज आंदोलन की संकीर्णता उनमें भी थी। हमारे इतिहासकार अब तक स्वयं अपने साम्प्रदायिक संस्कारों के कारण भारतेन्दुकालीन लेखकों की इस संकीर्णता को परिस्थिति-जन्य और उचित ठहराकर गौरवान्वित कर आये हैं। वे उनकी हिन्दूवादिता को राष्ट्रीयता का सच्चा रूप सिद्ध करते रहे हैं। लेकिन वस्तुतः परिस्थिति यह थी कि भारतेन्दु कालीन लेखकों का हिन्दी-प्रेम आर्य-समाजियों की तरह ही उर्दू और मुसलमानों का विरोधी था। सन् १८५७ के राजद्रोह में मुसलमानों ने किन्हीं कारणों से क्यों न हो, सबसे आगे बढ़कर भाग लिया था। इसलिए सन् सत्तावन से लेकर १९०६ ई० में मुस्लिम लीग के जन्म तक मुसलमानों पर अंग्रेज़ों की कोप-दृष्टि बनी रही। उर्दू-साहित्य में ग़ालिब से लेकर इक़बाल तक सभी ने किसी न किसी ढंग से अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध स्वर ऊँचा किया, और अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के मुक़ाबले में खड़े होने के लिए भारतीय-एकता पर ज़ोर दिया। ऐसी कोई व्यापक राष्ट्रीय-भावना भारतेन्दु-युग के लेखकों में नहीं मिलती। अंग्रेज़ों के आर्थिक शोषण, भुखमरी और अकाल का उल्लेख उनकी तुकबन्दियों में यत्र-तत्र अवश्य मिलता है, किन्तु साथ ही राज-भक्ति के उद्गार और आश्वासन इतने परिमाण में मिलते हैं कि उन सब को तत्कालीन परिस्थिति की विवशता के मत्थे मढ़ देना एक प्रवंचना

को प्रश्रय देना मात्र है। परिस्थिति की विवशता में सजग कलाकार अपने स्वाभिमान को त्याग कर अन्याय और अनीति के प्रतिनिधियों का स्तव-गान नहीं लिखते। आश्चर्य की बात तो यह है कि सन् ५७ के राजद्रोह के बारे में इनमें से जिस किसी ने यदि कुछ लिखा भी तो उसके विरोध में, यह कहकर कि यह कुछ मूर्खों का कार्य था, और महारानी विक्टोरिया ने उनका दमन किया तो ठीक ही किया। उनके आन्दोलन में प्रगतिशील तत्व केवल इतना था कि उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता के अनुकरण का विरोध करते हुए भी हिन्दू-समाज की कुरीतियों का पक्ष-समर्थन नहीं किया, प्रत्युत उनका विरोध ही किया और इस प्रकार सामाजिक-जाग्रति फैलाने में योग दिया। और चूँकि ये महानुभाव मूलतः प्रचारक और पत्रकार थे, इसलिए उनका रचा साहित्य भी सामयिक आन्दोलनों की संकीर्णता से आक्रान्त है, स्थायी मूल्य का उसमें शतांश भी नहीं है। संभव है कि इस सत्य को इतनी स्पष्टता से सुनना हमारे संकीर्णमना इतिहासकारों और विद्यार्थियों को असह्य लगे, लेकिन सत्य पर आवरण कब तक डाला जा सकता है? कुछ इतिहासकार भारतेन्दु-युग को छाया-वादी-युग से आगे बढ़ा हुआ बताने की चेष्टा में साहित्य के मूल्यों को उठाकर ताक पर रख देते हैं और भारतेन्दु-युग की प्रत्येक तुकबन्दी को हिन्दी-साहित्य की श्रेष्ठतम और अमर सम्पदा घोषित करने लगते हैं। लेकिन अधिकतर इतिहासकारों का पूर्वग्रह इतना अंधा नहीं है। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि भारतेन्दु-कालीन साहित्य अत्यन्त साधारण कोटि का साहित्य है, किन्तु एक विचित्र और अनैतिहासिक प्रवंचना को जन्म देकर उसे गौरवान्वित भी करते हैं। उनका तर्क है कि उस समय तक न हिन्दी-भाषा का स्टैन्डर्ड रूप बन पाया था, न खड़ी-बोली हिन्दी में काव्योचित परिमार्जन ही हुआ था। अतः प्रारम्भकाल की रचनाएँ ऐसी ही हो सकती थीं। इस औचित्य-प्रकाशन में एक प्रवंचना भरी हुई है। ये इतिहासकार यह भूल जाते हैं कि साहित्य की रचना साहित्य-कार करता है। उसकी प्रतिभा पर ही श्रेष्ठ-साहित्य का निर्माण निर्भर

है। कबीर ने किस पहले से मँजीमँजाई भाषा में लिखा, तुलसीदास की अवधी में कितनी दीर्घ साहित्य-परम्परा थी? चॉसर की अंग्रेज़ी का क्या आधुनिक स्टैन्डर्ड है? पुश्किन के पहले रूसी-काव्य कहाँ और कितना था? भाषा का निर्माण और विकास जैसे जन-जीवन की सामाजिक आवश्यकताओं द्वारा होता है, वैसे ही उसका साहित्यिक मार्जन प्रतिभा-सम्पन्न साहित्यकार द्वारा रचना की प्रक्रिया के बीच होता है। प्रतिभा की स्वल्पता के साथ-साथ भारतेन्दुयुगीन लेखकों की विचार-पूँजी भी स्वल्प थी। इसको भी परिस्थितियों के मत्थे मढ़ देना सत्य से आँख मींच लेना है, क्योंकि ग़ालिब, हाली, अकबर तो थे ही, भारतेन्दु-युग के अन्त तक इक़बाल का रचनाकाल भी शुरू होगया था और रवीन्द्रनाथ ठाकुर तो वस्तुतः भारतेन्दु के समकालीन ही थे, उनसे केवल दस-ग्यारह वर्ष छोटे थे, लेकिन उनके जीवन-काल में ही रवीन्द्रनाथ ठाकुर की काव्य-शक्ति अपनी प्रौढ़ता प्राप्त कर गई थी। हम भारतेन्तु और उनके समकालीन लेखकों की कठिनाइयों को कम करके देखने के पक्ष में नहीं हैं, लेकिन उनके साहित्यिक कृतित्व के बारे में ग़लत दावों को भी उचित नहीं समझते। इससे साहित्य के इतिहास को समझने की जो एक भ्रान्त परिपाटी चल पड़ी है, उससे पाठक अपने को बचा सकते हैं।

तो हिन्दी-साहित्य का इतिहास यहां से शुरू होता है। हम शताब्दी को सीमाचिन्ह मान कर इस काल-अवधि को उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में नहीं बाटेंगे, न हर पीढ़ी के किसी-एक महत्वपूर्ण या प्रतिभाशाली लेखक के नाम पर भारतेन्दु-युग, द्विवेदी-युग, प्रसाद-युग, प्रेमचन्द-युग में बाटेंगे और न यह जानकर कि चूँकि हर विकास-धारा का आदि, मध्य और वर्तमान होता है, इससे आदि-युग, मध्य-युग और वर्तमान-युग में ही बाटेंगे। दिनमान के आधार पर हिन्दी-साहित्य के 'स्वर्ण-विहान', 'मध्याह्न' तक तो कल्पना दौड़ाई भी जा सकती है, लेकिन 'अवसान' की कल्पना भयावह है और सत्य भी नहीं। इस तरह के काल-विभाजन साहित्य के विभिन्न रूपों (कविता, नाटक, उपन्यास,

कहानी, निबंध, आलोचना) के माध्यम से विकासमान हिन्दी-साहित्य की परम्परा को, विशेषकर उसकी प्रवृत्तियों और गति-दिशा को समझने में सहायक नहीं होते। इसलिए इन साहित्य-रूपों के अलग-अलग माध्यम से ही हम हिन्दी-साहित्य के इतिहास को समझने-समझाने की चेष्टा करेंगे।

दो

हिन्दी-कविता का विकास—

हिन्दी-कविता के प्रवृत्यात्मक विकास को दृष्टि में रखकर हम उसे तीन युगों में बाँट सकते हैं—

(१) पूर्व-छायावाद युग; (२) छायावाद युग; और (३) उत्तर-छायावाद युग। इस काल-विभाजन का छायावाद ही प्रमाण है। छायावाद का विस्तार दोनों महायुद्धों के बीच के बीस-इक्कीस वर्षों की काल-अवधि है। छायावादयुग से पहले की कविता में किसी समय कोई एक ही प्रवृत्ति या विचारधारा सर्व-प्रधान नहीं रही। उत्तर-छायावाद युग में भी अभी तक हिन्दी-काव्य की कोई प्रवृत्ति इतनी प्रभुत्वशाली और व्यापक नहीं हो पाई कि उसके नाम पर युग को अभिहित किया जाय। इस काल-विभाजन का छायावाद प्रमाण इसलिए भी है कि पूर्व और पश्चात् की काव्य-धाराएँ और प्रवृत्तियाँ छायावाद से अन्तरंग रूप से सम्बन्धित हैं। श्रीधर पाठक से हिन्दी-कविता की जो परम्परा चली, वह छायावाद की ही पूर्व-गामिनी थी। छायावाद के पूर्व-चिन्ह उसमें प्रगट थे, और उसके बहिरंग को देखकर आलोचकों और इतिहासकारों ने अपने रजिस्टर में प्रवृत्तियों के चाहे जितने ख़ाने खोल दिये हों, उसका स्वाभाविक विकास छायावाद की ओर ही था, क्योंकि युग की

प्रगतिशील चेतना और अनुभूति अज्ञात रूप से इस दिशा में ही विकास कर रही थी। इसी प्रकार उत्तर-छायावाद युग की कविता भी छायावाद से ही निसृत है। छायावादी काव्य के ह्रास-चिन्ह इसमें प्रकट हैं। छायावादी प्रवृत्ति एक संश्लिष्ट प्रवृत्ति थी, किन्तु उत्तर-छायावाद युग में उसकी संश्लिष्ट भावना विशृंखलित हो गई; जिससे काव्यानुभूति के तार बिखर गये। छायावादी कविता का स्वर बिखर गया। कुछ कवियों ने छायावाद के समाज-परक तत्वों में नये विचार भरकर सच्ची अनुभूति के बिना ही प्रगतिशीलता का स्वर-संधान करना चाहा, तो कुछ ने उसके व्यक्ति-परक तत्वों की गठरी सहेज कर प्रयोगशीलता का बौद्धिक चमत्कार दिखाया। दोनों ओर खोखला आत्म-प्रदर्शन ही अधिक रहा, जीवन के हर्ष-विषाद और उसकी समस्याओं की मार्मिक अभिव्यक्ति विरल हो गई। इसलिए प्रारम्भ की साधारण, सरल, इतिवृत्तात्मक किन्तु विकासोन्मुखी हिन्दी-कविता, दोनों महायुद्धों के बीच की अपने पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँची छायावादी कविता और उत्तर-छायावाद-युग की पथ-भ्रष्ट और पथ-खोजी दुरूह अथवा गद्यात्मक कविता में एक-सूत्रता है। जिसे हमारे इतिहासकार बड़े गर्व से 'राष्ट्रीय' कविता कहते हैं (मानो उन चन्द उदबोधनात्मक कविताओं और तुकबन्दियों के अतिरिक्त सब कुछ अ-राष्ट्रीय हो), वह भी इस सूत्र में ही अनिवार्यतः गुंथी हुई है। राष्ट्रीय-जागरण के क्रोड़ में ही हिन्दी-कविता का जन्म और विकास हुआ है, इसलिए राष्ट्रीय-भावना कहीं दृश्यस्तर की वस्तु-योजना को लेकर तो कहीं गहरी अन्तःप्रवृत्ति की सूक्ष्म, मार्मिक अभिव्यक्ति के रूप में व्याप्त रही है।

जिस कविता को हिन्दी में छायावादी कहकर पुकारते हैं, वह वस्तुतः पाश्चात्य देशों की 'रोमांटिक' (स्वच्छन्दतावादी) कविता की अनुरूपिणी है। बंगला से लेकर 'छायाबाद' नाम तो उन विरोधियों का दिया हुआ है जिनमें यथातथ्यवादी, अभिधा-शैली में लिखी तुकबन्दियों या परम्परा-विहित धार्मिक-भावना से लिखी कविताओं के अतिरिक्त किसी प्रकार की भी

संश्लिष्ट और अनुभूति-प्रधान कविता को समझने की क्षमता ही नहीं थी। किन्तु यह शब्द प्रचलित होकर रूढ़ हो गया और स्वयं स्वच्छन्दतावादी कवियों ने इसे अपना लिया। छायावाद या स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति विश्व-साहित्य में नई नहीं है। यथार्थवादी प्रवृत्ति की तरह काल-विशेष की विशेष परिस्थितियों में यह वस्तुजगत् के प्रति संवेदनशील मनुष्य की एक विशिष्ट, किन्तु स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। यह केवल एक अन्ध भाव-प्रतिक्रिया ही नहीं है, बल्कि जीवन और जगत् के प्रति एक निश्चित और मूलभूत दृष्टिकोण भी है। इसलिए हिन्दी की छायावादी कविता को पाश्चात्य या बंगला-काव्य की अनुकृति या अनुवर्तिनी नहीं कहा जा सकता, यद्यपि उनसे प्रभावित वह अवश्य है। एक सीमा तक किसी भी काल की ऐसी कविता को स्वच्छन्दतावादी कहा जा सकता है जो भाव और कल्पना-प्रधान हो, अर्थात् जिनमें रीति-बद्ध काव्य की तरह रूढ़ि-नियमों, और सुनिश्चित शास्त्रीय परम्परा का निर्वाह न हो। इस व्यापक अर्थ में हम प्राचीन काव्य में भी यत्र-तत्र स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के चिह्न खोज कर निकाल सकते हैं। लेकिन अठारहवीं-उन्नीसवीं शताब्दी के पाश्चात्य काव्य और साहित्य की एक विशिष्ट प्रवृत्ति और जीवन-दृष्टि के अर्थ में ही स्वच्छन्दतावाद या 'रोमान्टिसिज़्म' शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रवृत्ति के अंकुर चाहे पश्चिम की प्राचीन और मध्यकालीन काव्य-परम्परा में मिलते हों, लेकिन इसका प्रस्फुटन अनेक अन्तर्विरोधी तत्वों के संयोग से एक अभिनव और विशिष्ट रूप में हुआ।

एक अंग्रेज़ी आलोचक का कहना है कि स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण का प्रतिनिधि प्रतीक मध्यकालीन गाथाओं का चरितनायक डाक्टर फॉस्टस है, जिसने वर्जित तंत्र-ज्ञान का अध्ययन करके स्वयं ईश्वर को चुनौती दी थी। मध्यकालीन जन-साधारण की दृष्टि में डाक्टर फॉस्टस सामन्ती सत्ता को चुनौती देने, ज्ञान की उपलब्धि में निरत रहने और मनुष्य अपने हित-साधन के लिए प्रकृति को वश में कर सकता है, इस मानवी विश्वास का प्रतीक था। किन्तु बाद

में, स्वच्छन्दतावादियों की दृष्टि में वह अज्ञात और अप्राप्य को प्राप्त करने की शाश्वत मानव-चेष्टा, वस्तु-जगत् से मनुष्य के चिरन्तन और दुर्निवार अन्तर्विरोध का प्रतीक बन गया। मध्यकालीन दृष्टिकोण में व्यक्ति की महत्ता और शक्ति-संभावना में आस्था थी, तो स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण में मनुष्य और वस्तु-जगत् में चिरस्थायी संघर्ष और विरोध का विश्वास था। इस प्रकार वास्तविकता और उसके सत्य की खोज से विमुख होकर वास्तविकता से ही पलायन करने की चेष्टा करना यथार्थवादी दृष्टिकोण से स्वच्छन्दतावादी दृष्टिकोण की ओर संक्रमण है।

इस स्थान पर हम उन समाजगत कारणों की ओर संकेत ही कर सकते हैं जिन्होंने कला और साहित्य में व्यक्तिवाद को जन्म दिया। मध्य-काल से निकलकर मनुष्य ने जब औद्योगिक युग में प्रवेश किया, उस समय व्यक्ति की सत्ता के प्रति वह पहली बार व्यापक रूप से सचेतन हुआ। फ्रांस और इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्तियों ने, जिनके फलस्वरूप मानव-समाज सामन्तकाल से निकलकर पूँजीवादी युग में आया, मनुष्य के अधिकारों की घोषणा की थी। यह एक प्रजातांत्रिक सिद्धान्त की घोषणा थी, जिसका अर्थ था कि स्वतंत्रता और भाईचारे के वातावरण में हर व्यक्ति शान्तिपूर्वक अपने व्यक्तिगत सुख-सम्मान के साधन जुटा सकता है, क़तई आवश्यक नहीं कि उसके व्यक्तिगत हित सामाजिक हितों से अनिवार्यतः टकरायें ही। व्यक्तिवाद की यह स्वीकृति समाज की अस्वीकृति पर निर्भर नहीं थी। व्यक्ति-चेतना का यह रूप मनुष्य मात्र की चेतना का मुक्तिदायी विकास-चिह्न है। तब से व्यक्तिवाद किसी न किसी रूप में विश्व-मानव की चेतना का अभिन्न अंग बना हुआ है और किसी भी भावी समाज में व्यक्ति की सत्ता और उसकी व्यक्ति-परक चेतना को विस्मृत करने के लिए मनुष्य को विवश नहीं किया जा सकता। एक पूर्णतः जनवादी अथवा समष्टिवादी समाज में भी व्यक्ति ही समाज के योग-क्षेम का प्रमाण रहेगा, क्योंकि व्यष्टि और समष्टि के हितों में वैषम्य और असामंजस्य के कारणभूत वर्ग-भेद मिट जायेंगे। लेकिन अठारहवीं-

उन्नीसवीं शताब्दियों की पूँजीवादी क्रान्तियों ने व्यक्ति और समाज के पारस्परिक सामंजस्य की संभावना की घोषणा तो की लेकिन व्यवहारतः यह संभावना प्रतिफलित न हो सकी। नये समाज के क्रूर वर्ग-सम्बन्धों ने तत्काल मनुष्य की आशाओं, इच्छाओं और कल्पनाओं पर कुठाराघात किया। साहित्य की रोमान्टिक या स्वच्छन्दतावादी धारा ने व्यक्ति और समाज या वस्तु-जगत् के इस वैषम्य को चिरन्तन मानकर व्यक्तिवाद की पताका फहराई। नैराश्य-वेदना के भावना-कूलों के बीच स्वच्छन्दतावाद की धारा प्रवाहित हो चली।[1] जर्मनी के श्लीगल, शेलिंग और फिश्ते ने सर्वप्रथम सन् १८०० ई० के लगभग स्वच्छन्दतावाद के काव्य-दर्शन 'असीम की साधना' की बुनियाद डाली थी। यह दर्शन उस युग के बुद्धिवाद और क्लासिसिज़्म की भावना की प्रतिक्रिया के रूप में जन्मा। फ्रांस के रूसो और उसके अनुयायियों ने इसका अपने ढंग से समर्थन किया। जर्मनी की स्वच्छन्दतावादी धारा बुद्धि-पक्ष की अपेक्षा हृदय-पक्ष को, चेतना की अपेक्षा अवचेतना या अन्तश्चेतना को, तर्कज्ञान की अपेक्षा दिव्य-ज्ञान को, प्रतिनिधि मानव-चरित की अपेक्षा विशिष्ट व्यक्ति-

---

१. विषय-वस्तु से साहित्य की प्रवृत्ति का निर्धारण नहीं किया जाता। प्रवृत्ति प्रवृत्ति है, जीवन और जगत् को देखने की दृष्टि और रागात्मक प्रतिक्रिया का वह समन्वित रूप है। स्वच्छन्दतावादी काव्य और कला ने अपनी दृष्टि से जीवन और जगत् के बहुविध विषयों, वस्तुओं, भावों और जीवन-व्यापारों का कलात्मक वर्णन और चित्रण किया है। लोकवार्ता, परियों की कहानियों, पौराणिक गाथाओं, ऐतिहासिक घटनाओं और चरित-नायकों से लेकर व्यक्ति-मानस के सूक्ष्मातिसूक्ष्म संवेदनों को अभिव्यक्ति दी है। इसलिए स्वच्छन्दतावादी या यथार्थवादी प्रवृत्ति के अन्तर्गत रखते समय किसी रचना के बहिरंग को ही नहीं देखना चाहिए बल्कि उसके अन्तरंग से झांकती हुई कवि-दृष्टि को पहचानना चाहिए।

चरित को, मानवता की अपेक्षा लोकजनों को, दिवस और धूप की अपेक्षा रात्रि और ज्योत्स्ना को, भावी-समाज की आदर्श-कल्पनाओं की अपेक्षा इतिहास को अधिक मूल्य देती थी। जर्मन-धारा का सम्बन्ध मध्यकालीन जीवनादर्शों और ईसाई-धर्म से इतना आंगिक था कि वह राजनीति में शीघ्र ही प्रतिक्रियावादी शक्तियों से सम्बद्ध हो गई। लेकिन फ्रांसीसी धारा ने क्रान्ति का समर्थन किया और प्रगतिशील विचारों को मार्मिक अभिव्यक्ति दी। अंग्रेज़ी में शैली, बायरन और प्रारंभिक उत्थान के वर्ड्सवर्थ आदि ने स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के जिस रूप को अभिव्यक्ति दी वह फ्रांसीसी धारा से मिलती-जुलती है। उसकी अहंवादी भावनाएँ उदात्त और व्यापक हैं। कहने का तात्पर्य यह कि अपने-अपने देशकाल की विशिष्ट ऐतिहासिक परिस्थितियों में स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति का भिन्न-भिन्न रूप-संस्कार हुआ। उसके व्यापक दृष्टिकोण में यद्यपि समानता है, किन्तु अभिव्यक्ति में काफ़ी भेद भी है। अनेक ऐतिहासिक विचार-तन्तु और प्रवृत्तियों की संश्लिष्ट-योजना स्वच्छन्दतावादी काव्य में मिलती है, और देश-काल के परिस्थितिभेद के अनुसार किसी देश की धारा में यदि एक तत्व की प्रधानता है तो दूसरे देश की धारा में दूसरे तत्व की। अतः यह कहना जैसे ग़लत होगा कि फ्रांसीसी धारा जर्मन धारा के अनुकरण पर चली या अंग्रेज़ी धारा फ्रांसीसी धारा की अनुवर्तिनी थी, उसी तरह यह कहना भी ग़लत होगा कि हिन्दी की छायावादी कविता पाश्चात्य (भला किस देश की ? पाश्चात्य में तो जर्मनी, फ्रांस, इंगलैण्ड आदि सभी हैं) धारा की नक़ल है। और यदि फैशन की नक़ल की जाती है तो तत्कालीन या समसामयिक फैशन की। सौ वर्ष पुराने फैशन की नहीं। किन्तु उस स्वच्छन्दतावादी धारा का तो जिससे छायावाद की कविता प्रभावित है, सत्तर वर्ष पहले अवसान हो चुका था, और प्रथम महायुद्ध के बाद की पाश्चात्य कविता स्वच्छन्दतावाद के अवशिष्ट ह्रासोन्मुखी, घोर व्यक्तिवादी, अनास्थावादी और असामाजिक तत्वों को ही एकांगी अभिव्यक्ति दे रही थी। छायावादी

यदि सहसा उनकी परिपाटी पर चल पड़ते तो उन पर अनुकरण-वृत्ति का आरोप सही उतरता। वस्तुतः अपने देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियों में हमारे कवियों के हृदय में वास्तविक जगत् और उसके मानव-संबंधों की जो प्रतिक्रिया हुई, उसको अभिव्यक्ति देते समय उन्हें उन्नीसवीं शताब्दी की पाश्चात्य (अंग्रेज़ी) स्वच्छन्दतावादी धारा में कुछ सामान्य तत्व मिले जो उन्होंने ग्रहण किये।[1] छायावादी कवियों ने अपना अलग साहित्य-दर्शन प्रतिपादित किया, जिसका विवेचन प्रसंग आने पर होगा। इस संक्षिप्त भूमिका के बाद हम हिन्दी-कविता के विकास-क्रम को सरलता से समझ सकते हैं।

पूर्व-छायावादी युग

भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखक हिन्दी और हिन्दू-जाति के उद्धार के लिए आन्दोलन करने वाले देश-प्रेमी पत्रकार और प्रचारक ही अधिक थे, कवि और साहित्यकार कम। उनका देश-प्रेम एक ओर हिन्दू पुनरुत्थानवाद की मुस्लिम-विरोधी साम्प्रदायिकता तो दूसरी ओर राज-

---

१. सांस्कृतिक मानव-शास्त्र के विद्यार्थी जानते हैं कि किसी भी देश या जाति की जीवन तथा विचार-पद्धति में या तो अपने सामाजिक-जीवन के विकास की आन्तरिक आवश्यकताओं के तक़ाज़े के फलस्वरूप परिवर्तन होते हैं या किसी अपने से उन्नत बाह्य संस्कृति और जीवन-प्रणाली के संपर्क में आने के कारण, या फिर दोनों कारणों के संयोग से। केवल पुराणपंथी ही बाह्य-प्रभावों को वर्जनीय घोषित कर सकते हैं। यदि सब देश और सब जातीय संस्कृतियाँ आवश्यकतानुसार आदान-प्रदान से वंचित कर दी जायें तो मानव-समाज की प्रगति-धारा केंचुए की गति से भी मंद पड़ जायगी, संभव है कि अनेक संस्कृतियाँ ह्रासोन्मुखी होकर मिट चलें। बाह्य-प्रभावों में स्वस्थ और अस्वस्थ दोनों प्रकार के तत्व होते हैं, लेकिन जीवन का यह नियम है कि अन्ततः स्वस्थ प्रभाव ही विजयी होते हैं।

भक्ति की अवसरवादिता के संकीर्ण घेरे में ही अन्त तक चक्कर काटता रहा। आश्चर्य की बात तो यह है कि उन्नीसवीं शताब्दी में ही नहीं, बीसवीं शताब्दी के पहले दो दशकों तक, अर्थात् छायावादी काव्य-धारा के फूट पड़ने से पहले तक के हिन्दी कवि (महावीर प्रसाद द्विवेदी, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और मैथिलीशरण गुप्त) इस संकीर्ण घेरे का अतिक्रमण करने का साहस नहीं कर पाये। जातिगत, सम्प्रदाय-गत और भाषागत स्वार्थों से ऊपर उठकर वे अपनी वाणी में राष्ट्रीय एकता का वह उदात्त स्वर नहीं फूंक पाये जिसने रवीन्द्रनाथ ठाकुर और इक़बाल के कंठ से निकलकर सारे देश में एक नया स्पन्दन भर दिया था। छायावादी कविता ने ही सबसे पहले काव्य-क्षेत्र में इन संकीर्ण सीमाओं को तोड़ा। राज-भक्ति की अवसरवादिता उसमें कहीं नहीं मिलती, यद्यपि प्रसाद और निराला में हिन्दू-पुनरुत्थानवाद की दूरागत अनुगूँज आरंभ में कहीं-कहीं अवश्य सुनाई देती रही। अस्तु, प्रधानतः सुधारक, प्रचारक और पत्रकार होने के नाते भारतेन्दुकालीन लेखकों को दिन-प्रतिदिन अपने-अपने सम्पादित पत्र-पत्रिकाओं द्वारा हिन्दू-समाज में प्रचलित कुरीतियों, धार्मिक मिथ्याचार, छल-कपट, अमीरों की स्वार्थ-परता, पाश्चात्य-सभ्यता के रंग में रँगे नये शिक्षित वर्ग की अनुकरण-वृत्ति, पुलिस और कर्मचारियों की लूट-खसोट, अदालतों में प्रचलित अन्याय-अनीति, उर्दू के प्रति सरकार के पक्षपात, देश की सामान्य दुरवस्था, अकाल, महामारी के प्रकोप, अंग्रेज़ी शासन के आर्थिक-शोषण आदि के संबंध में अपने विचार प्रकट करके पाठकों को सामयिक प्रश्नों के प्रति जागरूक बनाना होता था। वे इन विचारों को कभी गद्य-लेखों में तो कभी छन्द-बद्ध पद्यों के माध्यम से प्रकट करते थे। कभी-कभी इन विचारों को और अधिक प्रभावशाली अभिव्यक्ति देने के लिए वे नाट्य-विधान का भी उपयोग करते थे। उनके लेखों और नाटकों की भाषा तो हिन्दी होती थी, लेकिन नाटकों में आये गीतों और पद्यों की भाषा बहुधा ब्रजभाषा ही होती थी। भारतेन्दु ने खड़ी-बोली में पद्य-

रचना करनी चाही, किन्तु वे सफल नहीं हुए, निर्जीव तुकबन्दियाँ ही बन पड़ीं। ब्रजभाषा में अपेक्षया उन्होंने कुछ मार्मिक कविताएँ लिखी हैं, जिनमें अनुभूति का योग है। ब्रजभाषा या खड़ी-बोली में भारतेन्दुकालीन लेखकों ने सामयिक-विषयों पर जो पद्यात्मक रचनाएँ कीं उन्हें कविता की कोटि में नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उनमें राजनीतिक-सामाजिक विचारों को ज्यों का त्यों छन्द-बद्ध करने की ही प्रवृत्ति है, जीवन और जगत् के अनुभव को मर्म-छवियों के माध्यम से मूर्त्त कलात्मक अभिव्यक्ति देकर नयी अर्थ-सृष्टि करने का प्रयास क़तई नहीं है। विचारों और वक्तव्यों को बिना अनुभूति के छन्द-बद्ध कर देने मात्र से कविता नहीं पैदा होती। ऐसी छन्दोबद्ध तुकबन्दियाँ आजकल भी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं, नये से नये विषयों पर भी, लेकिन उन्हें कविता कहलाने का गौरव नहीं मिलता। स्वयं भारतेन्दुकालीन लेखक अपने को कवि और अपनी पद्यात्मक रचनाओं को कविता कहकर पुकारने में संकोचशील थे। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा :—

"भारत में अब कवि भी नहीं हैं कविता भी नहीं है। कारण यह है कि कविता देश और जाति की स्वाधीनता से सम्बन्ध रखती है। जब यह देश, देश था और यहां के लोग स्वाधीन थे, तब यहां कविता भी होती थी। उस समय की जो बची-खुची कविता अब तक मिलती है वह आदर की वस्तु है और उसका आदर होता है। कविता के लिए अपने देश की बातें, अपने देश के भाव और अपने मन की मौज दरकार है। हम पराधीनों में यह सब बातें कहाँ? फिर हमारी कविता क्या और उसका गुरुत्व क्या? इससे इसे तुकबन्दी ही कहना ठीक है। पराधीन लोगों की तुकबन्दी में कुछ तो अपने दुःख का रोना होता है, और कुछ अपनी गिरी दशा पर पराई हँसी आती है..."[1]

---

१. इस वक्तव्य में अनेक भ्रान्त स्थापनाएँ हैं। पहला शब्द ही भ्रम में डालता है। 'भारत' शब्द का प्रयोग बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने

इसलिए भारतेन्दु या उनके जीवन-काल में जिन लेखकों ने खड़ी-बोली में इक्की-दुक्की तुकबन्दियाँ रचीं उन्हें कविता कहना ठीक नहीं। भारतेन्दुकालीन लेखक अधिकतर हिन्दी में गद्य और ब्रजभाषा में पद्य-रचना करते थे। उनके बाद भी उन्नीसवीं शताब्दी में कोई कवि केवल हिन्दी का कवि नहीं हुआ। जिन्होंने भी पद्य-रचना की हिन्दी और

या तो औपचारिक रीति से किया है, या हिन्दी-भाषी क्षेत्र को ही वे समग्र भारत समझ बैठे हैं। अन्यथा 'भारत में अब कवि नहीं' वे न लिखते। मिर्ज़ा ग़ालिब की मृत्यु हाल ही में हुई थी (सन् १८६९ ई०) और यद्यपि इक़बाल का रचनाकाल किंचित् बाद में शुरू हुआ (सन् १८९८ ई०), तो भी 'दाग़', 'हाली', 'अकबर' इलाहाबादी तो उस समय जीवित ही थे, और बेहद लोक-प्रिय थे। उधर बंगाल में माइकेल मधुसूदन दत्त की रचनाएँ युगान्तर उपस्थित कर चुकी थीं, हेमचन्द्र और नवीनचन्द्र सेन के महाकाव्य और देश-प्रेम से ओतप्रोत काव्य-ग्रन्थ सामने आ चुके थे और साहित्य-गगन में स्वयं रवीन्द्रनाथ ठाकुर का उदय हो चुका था। सन् १८७५ में रवीन्द्र की प्रारम्भिक कविताओं का संग्रह 'वनफूल और प्रलाप' के नाम से छपा था, फिर १८८० में 'बालमीकि-प्रतिभा'—संगीत नाटक, १८८१ में 'भग्न-हृदय' कविताओं का संग्रह, १८८२ में 'काल-मगया'—गीति-नाटक आदि रचनाओं के प्रकाशित होने का धारावाहिक क्रम शुरू हो गया था। और यह सब पराधीन देश में ही। पराधीन देश में ही कबीर, सूर, तुलसी और मीरा ने कविता की। अपनी अ-प्रतिभा और अपनी अ-कविता के लिए देश की परा-धीनता में औचित्य खोजना एक समाजशास्त्रीय प्रवंचना को जन्म देना है। किन्तु विचारों के इस कच्चेपन के होते हुए भी बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने अपने समय के लेखकों की तुकबन्दियों को तुकबन्दियाँ ही स्वीकार करके जो ईमानदारी दिखाई वह आज के लेखकों के लिए भी अनु-करणीय है।

ब्रजभाषा दोनों में की। साहित्य की दृष्टि से हिन्दी-कविता के प्रारंभिक कवियों में केवल तीन नाम उल्लेखनीय हैं—श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर शर्मा और राय देवीप्रसाद पूर्ण। हिन्दी के प्रारंभिक कवि होने के कारण ही इनका विशेष महत्व है। भारतेन्दु ने सन् १८७६ में हिन्दी में तीन पद्य रचे थे, लेकिन तीनों कविताएं 'भौंड़ी' बन पड़ीं, इसपर उन्होंने उर्दू कविता के अनुभव को अनदेखा करके और अपनी असामर्थ्य को स्वीकार न करके यह फतवा दे दिया कि हिन्दी में "क्रिया इत्यादि प्रायः दीर्घ मात्रा में होती हैं इससे कविता अच्छी नहीं बनती।" तथा "इससे यह निश्चय होता है कि ब्रजभाषा ही में कविता करना उत्तम होता है और इसी से सब कविता ब्रजभाषा ही में उत्तम होती है।" बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', राधाचरण गोस्वामी, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास आदि भी इस मत के ही अनुगामी थे। गद्य और पद्य की दो भाषाएँ भारतेन्दु की मृत्यु (सन् १८८५ ई०) तक, अपवाद छोड़कर बिल्कुल अलग चलती रहीं। श्रीधर पाठक ने सन् १८८६ में 'एकान्तवासी योगी' की रचना करके यह परम्परा तोड़ी। सन् १८८८ में अयोध्याप्रसाद खत्री ने 'खड़ी-बोली आन्दोलन' नाम की एक पुस्तिका छपाई जिसमें उन्होंने यह सम्मति प्रकट की कि ब्रजभाषा और अवधी की रचनाएँ हिन्दी की नहीं हैं। हिन्दी की कविता हिन्दी में होनी चाहिए। इस प्रश्न को लेकर दो दल बन गये। श्रीधर पाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री और महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी (खड़ी-बोली) का पक्ष लिया। प्रतापनारायण मिश्र, राय देवी प्रसाद पूर्ण आदि ब्रजभाषा की हिमायत लेकर उठे। मनोरंजक बात यह है कि खड़ी-बोली हिन्दी के पक्षधर ब्रजभाषा में भी कविताएँ लिखते थे और ब्रजभाषा के पक्षपाती खड़ी-बोली में। फिर भी दोनों ओर से पत्र-पत्रिकाओं में ऐसा जम कर वागयुद्ध चला कि एक समय तक और सब प्रसंग फीके पड़ गये। अपने जन्म-काल में ही पत्रकारों और प्रचारकों के नेतृत्व के कारण हिन्दी-साहित्य को कितने ग़लत विचारों और संकीर्ण भावनाओं का भार वहन करना पड़ा है, यह स्वयं अपने

आप में स्वतंत्र अध्ययन का विषय है। जो भी हो, इन सार्थक-निरर्थक बहसों के बीच श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर शर्मा और राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' ने हिन्दी काव्य-धारा का सूत्रपात किया। तीनों ही साधारण प्रतिभा के कवि थे, लेकिन इनमें नाथूराम शंकर शर्मा (सन् १८५६–१९३२ ई०) का महत्व इसलिए है कि उन्होंने खड़ी-बोली में अतिशयोक्तियों से भरे रीतिकालीन ढर्रे के शृंगार-प्रधान कवित्त रच कर यह सिद्ध कर दिया कि भाषा पर अधिकार हो तो हिन्दी में भी ब्रजभाषा जैसा शब्द-चमत्कार पैदा किया जा सकता है। उदाहरण के लिए—

तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी
मंगल मयंक मंद मंद पड़ जायेंगे।
मीन बिन मारे मर जायेंगे सरोवर में,
डूब-डूब 'संकर' सरोज सड़ जायेंगे॥
चौंक-चौंक चारों ओर चौकड़ी भरेंगे मृग
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायेंगे।
बोलो इन अंखियों की होड़ करने को अब
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायेंगे॥

नाथूराम शंकर शर्मा की कविताओं में अनुभूति का योग नहीं है केवल चमत्कार-प्रदर्शन की स्थूल भावना है। वे, वस्तुतः पुरानी रीति-काव्य परम्परा के ही कवि हैं, भेद केवल इतना है कि उन्होंने ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी-बोली हिन्दी में लिखा। इसी लिए छायावाद-युग जहाँ इतिवृत्तात्मक पद्य-रचना की परम्परा को पीछे छोड़ कर आगे बढ़ चला, वहाँ इस तरह की चमत्कार-प्रधान संवेदन-शून्य कविताओं को भी उसने पीछे छोड़ दिया। नाथूराम शंकर शर्मा सन् १९३२ तक जीवित रहे, लेकिन काव्यक्षेत्र में उनकी प्रतिभा युग का साथ न दे सकी। यही हाल एक सीमा तक श्रीधर पाठक और उनके अनन्तर आने वाले इतिवृत्तात्मक पद्य-प्रबन्धों, मुक्तकों, या खण्ड-काव्यों की रचना करने वाले कवियों का हुआ। प्रथम महायुद्ध के अन्त तक ही वे पाठकों की

रुचि का रंजन कर पाये, यद्यपि उनमें से अधिकांश कवि छायावाद-युग में भी लिखते रहे। प्रतिभावान् कवियों का हिन्दी-गगन में उदय होते ही उनका प्रकाश मंद पड़ता गया। लेकिन इनकी इतिवृत्तात्मक, यथातथ्य वर्णन-प्रधान रचनाएँ प्रवृत्यात्मक दृष्टि से छायावाद की ही पूर्वगामिनी हैं, उनमें स्वच्छन्दतावादी भावना के पूर्व-चिह्न प्रकट हैं। श्रीधर पाठक, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी आदि इस प्रकार 'छायावादी-युग' की आदि-कड़ी हैं।

श्रीधर पाठक[1]—(१८५६–१६२८ ई०) ने सन् १८८६ में लावनी की शैली पर हिन्दी में अंग्रेज़ी की प्रथम स्वच्छन्दतावादी धारा के प्रसिद्ध कवि गोल्डस्मिथ के हर्‌मिट (Hermit) का 'एकान्तवासी योगी' और फिर 'श्रांत पथिक' के नाम से ट्रैवलर (Traveller) का अनुवाद किया। इनके अतिरिक्त लौंगफेलो और पारनेल की कृतियों के अनुवाद भी उन्होंने किये। साथ ही हिन्दी में उन्होंने स्वतंत्र प्रकृति-वर्णन की ओर पहली बार ध्यान दिया। ब्रजभाषा की रीति-काव्य-परम्परा में प्राकृतिक-दृश्यों के प्रति मनुष्य का सहज अनुराग प्रकट नहीं हुआ। 'षट्-ऋतु-वर्णन' आदि में परम्परा-विहित ढंग से प्राकृतिक दृश्यों, पेड़-पौधों, फूल, पशु-पक्षियों आदि का उल्लेख केवल नायक-नायिका के भावों का 'उद्दीपन' कराने-भर के लिये होता था। बाह्य-प्रकृति के

---

१. श्रीधर पाठक आगरा-निवासी थे। संस्कृत, फ़ारसी के अतिरिक्त अंग्रेज़ी साहित्य का भी आपने गहरा अध्ययन किया था। कुछ देर अध्यापक रहे, फिर शिक्षा-विभाग के कर्मचारी बने। 'एकान्तवासी योगी', 'श्रान्त पथिक', 'ऊजड़ गाँव' और 'ऋतु संहार' आदि अनुवादों के अतिरिक्त आपने हिन्दी और ब्रजभाषा में जो स्वतन्त्र रचनाएँ कीं उनमें से 'मनोविनोद' (फुटकर रचनाओं का संग्रह) 'काश्मीर-सुषमा', 'देहरादून' और 'भारत-गीत' (देश-प्रेम की कविताएँ) आदि उल्लेखनीय हैं।

चिर-संसर्ग में चलने वाले मनुष्य के नाना कार्य-व्यापारों का पुराने ब्रजभाषा-काव्य में कोई संकेत ही नहीं मिलता, इसलिए संस्कृत-काव्यों की तरह प्रकृति के वस्तु-व्यापारों को काव्य का स्वतन्त्र आलम्बन बनाने या पाश्चात्य परम्परा के अनुसार 'प्रकृति के नान-रूपों के बीच व्यंजित होने वाली भावधारा का सुन्दर उद्घाटन' करने का प्रश्न ही नहीं उठता था। श्रीधर पाठक ने हिन्दी और ब्रजभाषा दोनों में समान रूप से स्वतन्त्र प्रकृति-वर्णन किया, और ब्रजभाषा में कालिदास के 'ऋतुसंहार' का अत्यन्त सरस काव्यमय अनुवाद भी। ब्रजभाषा में ही उन्होंने गोल्ड-स्मिथ के 'डिज़र्टेड विलेज' (Deserted Village) का 'ऊजड़ ग्राम' के नाम से अनुवाद किया। हिन्दी के प्रथम और एक सीमा तक समर्थ कवि की भाव-धारा को गोल्डस्मिथ और कालिदास में सहज आधार क्यों मिला, यह विचारणीय है। गोल्डस्मिथ अठारहवीं शताब्दी (सन् १७२८-७४ ई०) का लेखक है। सेम्युअल रिकार्डसन, हेनरी फील्डिंग, स्टर्न और गोल्डस्मिथ अठारहवीं शताब्दी अंग्रेज़ी-साहित्य के उन महान् लेखकों में से हैं जिन्हें हम उन्नीसवीं शताब्दी के स्वच्छन्दतावाद और यथार्थवाद इन दोनों महान् साहित्य-धाराओं के हरकारे कह सकते हैं। इनकी रचनाओं में, विशेषकर गोल्डस्मिथ के काव्य-ग्रंथ हरमिट और डिज़र्टेड विलेज में, उसके उपन्यास 'दी विकार ऑफ वेकफील्ड' में और नाटक 'शी स्टूप्स टू कॉन्कर' में अंग्रेज़ी जीवन के यथार्थ, उसके सहज हास्य-विनोद, संयम, उदात्त भावना, नैतिक आचरण और मानववाद का हम विशद चित्रण पाते हैं, जिसने गोल्डस्मिथ के बाद जेन ऑस्टिन, सर वाल्टर स्कॉट, चार्ल्स डिकेन्स और थैकरे को अंग्रेज़ी जीवन की सरलता-सहृदयता—आदर्शवादिता मिश्रित यथार्थ चित्र अंकित करने की प्रेरणा दी। दूसरी ओर गोल्डस्मिथ की रचनाओं में उसकी अपनी आत्मा भी झलकती है। राग-सम्बन्धों और जीवन-आदर्शों से समन्वित लेखक का व्यक्तित्व उसकी भावुकता में से झलक पड़ता है। उसके अन्तस् की भाव-धारा स्वच्छन्दतावाद की ओर ऊर्ध्वगमन करती दीखती है। नाग-

रिक समाज के कृत्रिम और आडम्बरपूर्ण वातावरण की अपेक्षा ग्राम्य-जीवन की सरलता के प्रति उसके मन का सहज अनुराग है। उसने अपनी रचनाओं में ग्राम्य-जीवन और भद्र-समाज के शिष्टाचारों से अनभिज्ञ रूक्ष और गँवार, किन्तु आत्मीय, सरल और सहृदय ग्रामीणों के अनेक चित्र अंकित किए हैं। गोल्डस्मिथ ने प्रकृति-प्रेम और प्रकृत-जीवन का काव्यादर्श सामने रखा। नवोत्थित पूँजीवाद की नागरिक सभ्यता के प्रति यह भावुकतामयी मध्यवर्गीय प्रतिक्रिया थी। ये तत्व अगली शताब्दी की स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा में एक नया जीवन-दर्शन लेकर विकसित हुए। इस प्रकार गोल्डस्मिथ और प्रकृति और मानव-स्वभाव के अनन्य कवि कालिदास की कृतियों में अपनी भाव-धारा के प्रकाश के लिए आधार खोजने का अर्थ है कि श्रीधर पाठक अपनी अन्तश्चेतना में काव्य और जीवन के आदर्शों में आसन्न परिवर्तनों का अनुभव कर रहे थे। उनमें स्वयं इतनी समर्थ प्रतिभा नहीं थी कि इन परिवर्तनों को कल्पना के योग से मूर्त्त अभिव्यक्ति दे सकते, इसलिए उन्होंने उनका आश्रय खोजा, जिनकी रचनाओं में उन्हें अपने हृदय की गूँज सुनाई दी। हिन्दी और ब्रजभाषा में उन्होंने स्वयं अपनी अनुभूति से जो कुछ लिखा वह भी ब्रज, अवधी, राजस्थानी या मैथिल आदि हिन्दी-भाषा-समूह की परम्परागत कविता में एक नया स्वर था—प्रकृति-प्रेम और साधारण जन-जीवन का चित्रण :—

> *"बीता कातिक मास शरद् का अन्त है,*
> *लगा सकल सुख-दायक ऋतु हेमन्त है।*
> *ज्वार-बाजरा आदि कभी के कट गये,*
> *खल्यान के काम से किसान निबट गये।*
> *थोड़े दिन को बैल परिश्रम से थमे,*
> *रब्बी के लहलहे नये अंकुर जमे।*
> *ज़मींदार को मिली उगाही खेत की,*
> *मूल ब्याज सब दैन महाजन की चुकी।*

उसके घर आनन्द हर्ष सुख मच रहा,
जिनको कुछ नहीं बचा, काम को टो रहे,
किस्मत को दे दोष बैठ घर रो रहे।
खाने भर को जिस किसान को बच रहा॥
ख़रीफ के खेतों में अब सुनसान है,
रब्बी के ऊपर किसान का ध्यान है।
जहाँ तहाँ रहट परोहे चल रहे,
बरहे जल के चारों ओर निकल रहे।
जौ गेहूँ के खेत सरस सरसों घनी,
दिन-दिन बढ़ने लगी विपुल शोभा सनी।
सुन्दर सौंफ़ सुन्दर कसूम की क्यारियाँ,
सोआ, पालक आदि विविध तरकारियाँ।
अपने अपने ठौर सभी ये सोहते,
सुन्दर शोभा से सबका मन मोहते...[1]

(श्रीधर पाठक, 'हेमन्त')

---

१. स्मरण रहे कि 'एकान्तवासी योगी' (गोल्डस्मिथ के 'हरमिट' का अनुवाद) सन् १८८६ में प्रकाशित हो गया था और 'हेमन्त' कविता उसके एक वर्ष बाद की रचना है। उनकी मौलिक कविता में तुकबन्दी की साधारणता और अनूदित कविता में शैली की प्रौढ़ता और सरसता का अन्तर द्रष्टव्य है।

दूर एक जंगल में जिस्का नहीं जगत को कुछ भी ध्यान।
बाल्य वयस से बसा हुआ था वृद्ध एक योगी सुज्ञान॥
घास पात था बिस्तर उस्का, दीन गुफ़ा सुखवास्स्थान।
कन्दमूल स्वादिष्ट मिष्टफल विमल कूपजल भोजन पान॥
जग से अलग अचिंतित निसिदिन करे मगन ईश्वर का ध्यान।
एक भजन ही काम उसे, आनंद, सदन भगवत गुनगान॥

('एकान्तवासी योगी' से)

यहाँ प्रकृति-दृश्य अपनी इयत्ता खोकर किसी नायिका की सुन्दरता के उपमान बने नहीं खड़े हैं, न युगल-प्रेमियों के प्रणय-विलास में उद्दीपन का सरंजाम कर रहे। यहाँ सिर्फ़ हेमन्त ऋतु के किसान-जीवन और ग्राम्य-दृश्य का यथातथ्य, पद्यात्मक वर्णन है। किन्तु इसमें एक नया स्वर है, वास्तविक जीवन का रुक्ष संस्पर्श है और कवि की सहानुभूति के प्रसरण के लिए नया क्षेत्र है। इसमें छायावाद के बीज हैं, लेकिन इतिवृत्तात्मक, वर्णन-प्रधान काव्य का तो यह आरम्भिक रूप है। आगे चलकर श्रीधर पाठक की हिन्दी कविताओं में भी परिष्कृति और चुस्ती आ गई, लेकिन अनुभूति में अधिक गहराई न आ पाई।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

साथ ही, सन् १८८४ में ब्रजभाषा में लिखी उनकी मौलिक कविता 'मेघागमन' का भी मिलान कीजिए :

नाना कृपान निज पानि लिए, वपु नील वसन परिधान किए,
गंभीर घोर अभिमान हिए, छकि पारिजात-मधुपान किए
छिन छिन पर जोर मरोर दिखावत, पल पल पर आकृति-कोर झुकावत
बनराह बाट श्यामता चढ़ावत, वैधव्य बाल वामता बढ़ावत
यह मोर नचावत, सोर मचावत, स्वेत स्वेत वग पाँति उड़ावत ॥

सीतल सुगन्ध सुन्दर अमंद, नन्दन प्रसून मकरन्द विन्द
मिश्रित समीर बिन धीर चलावत
अंधियार रात, हाथ न दिखात, बिन नाथ बाल विधवा डरात
तिन के मन मंदिर आग लगावत
छिन गर्जि गर्जि पुनि लर्जि लर्जि निज सेन सिखावत तर्जि तर्जि
दुन्दुभि धरनि आकाश लचावत
मल्लार राग गावत विहाग, रस प्रेम पाग अहो धन्य भाग
सुख पावत आवत मेघ महावत

हम ऊपर कह चुके हैं कि काव्य की भाषा के सन्बन्ध में खड़ी-बोली बनाम ब्रजभाषा का विवाद छिड़ते ही लेखक दो दलों में बंट गये थे और श्रीधर पाठक, अयोध्याप्रसाद खत्री और महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी का पक्ष लेकर उठ खड़े हुए। अयोध्याप्रसाद खत्री कवि नहीं थे, महावीर-प्रसाद द्विवेदी थोड़े-थोड़े कवि भी थे, किन्तु और बहुत-कुछ थे। छाया-वाद-युग के पूर्ण प्रसार तक वे हिन्दी-कवियों के प्रेरक, पथ-प्रदर्शक और नेता रहे। सन् १६०३ में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' (प्रयाग) पत्रिका का संपादन-कार्य संभाला। उस समय तक हिन्दी का साहित्यिक रूप स्थिर न हो पाया था। गद्य-लेखक व्याकरण की भूलों, विषय-प्रतिपादन की शिथिलता और अव्यवस्था पर ध्यान ही न देते थे। कविगण खड़ी-बोली में ब्रजभाषा और अवधी के शब्दों और क्रियाओं का प्रयोग मनमाने ढंग से करते थे। द्विवेदी जी ने भाषा-संस्कार का आन्दोलन छेड़ दिया। गौरीशंकर मिश्र, कामता प्रसाद गुरु और चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने इस कार्य में उनका हाथ बंटाया। उन्होंने विषयानुरूप गद्य-शैली का आदर्श सामने रखा। कविता के क्षेत्र में उन्होंने कोई नया आदर्श नहीं रखा। श्रीधर पाठक ने इतिवृत्तात्मक, या यथातथ्य वर्णनात्मक (नैचुरलिस्टिक) शैली का प्रयोग किया था, यद्यपि उनकी भावना या प्रवृत्ति कुछ-कुछ स्वच्छन्दतावादी थी। द्विवेदी जी ने भी इस शैली को ही प्रोत्साहन दिया। बँगला की कोमल-कान्त पदावली की अपेक्षा मराठी की इति-वृत्तात्मक शैली उनके मन के अधिक अनुकूल थी। उनकी स्वयं अपनी लिखी कविताओं का अधिक महत्व नहीं है,[1] किन्तु उन्होंने अपने संपादनकाल में जिन उदीयमान कवियों का मार्ग-प्रदर्शन किया उनकी कृतियों से हिन्दी-कविता गौरवशाली हुई है। पूर्व-छायावाद युग के कवियों में अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', गयाप्रसाद शुक्ल

---

१. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी की रचनाएँ : 'काव्य-मंजूषा', 'सुमन', और कविता-कलाप (सम्पादित)

'सनेही' और मैथिलीशरण गुप्त की काव्य-प्रतिभा अपने पूर्ण-विकास के लिए इतिवृत्तात्मक शैली की शुष्क-नीरस सीमाओं का अतिक्रमण करके युग-जीवन की व्यापक समस्याओं का काव्योचित चित्रण करने की ओर उन्मुख हुई। छायावादी-युग में भी इस मार्ग पर चलने वाले अनेक प्रतिभाशाली कवि सामने आये, जिनमें से माखनलाल चतुर्वेदी, रामनरेश त्रिपाठी, गोपालशरणसिंह, गुरुभक्तसिंह भक्त, सियारामशरण गुप्त, सुभद्राकुमारी चौहान, जगन्नाथ प्रसाद 'मिलिन्द' और श्यामनरायण पाण्डे के नाम उल्लेखनीय हैं। अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' और सुभद्राकुमारी चौहान के अतिरिक्त, सौभाग्य से, ये सभी कवि जीवित हैं और उनका रचना-क्रम जारी है।

मैथिली शरण गुप्त की 'कालानुसरण की क्षमता अर्थात् उत्तरोत्तर बदलती हुई भावनाओं और काव्य-प्रणालियों को ग्रहण करते चलने की शक्ति' का उल्लेख आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया है। किन्तु यह बात न्यूनाधिक रूप में वर्णात्मक शैली के उपरोक्त सभी कवियों पर लागू होती है। काव्य-क्षेत्र में ये किसी 'वाद' से बंधकर नहीं चले, यद्यपि गान्धीवाद का सर्वाधिक प्रभाव इनकी विचारधारा पर पड़ा है। ग़ालिब के शब्दों में इन सब कवियों की स्थिति कुछ ऐसी रही है :

चलता हूँ थोड़ी दूर हर इक तेज़ रौ के साथ।
पहचानता नहीं हूँ अभी राहबर को मैं॥

इस बीच राष्ट्रीय आन्दोलन में जो उतार-चढ़ाव आये, राष्ट्रीय-चेतना में जितनी विचारधाराएँ आकर मिलीं उन सब की अनुगूँज इनकी कविता में मिलती है, साम्प्रदायिक संकीर्णता और समाज-सुधार की भावना से आगे बढ़कर इनका मानव-प्रेमी हृदय दलित-पीड़ित किसान-मज़दूरों के आर्त्तनाद या शंखनाद या दोनों को सुनने में समर्थ हुआ है। राष्ट्रीय-संग्राम में इन्होंने अपनी उदबोधनात्मक वाणी से योग दिया है। अतीत के गौरव-गान गाकर इन्होंने जनता में स्वाभिमान जगाया है। इनकी कविता में भारतेन्दुकालीन या द्विवेदीकालीन इतिवृत्तात्मक कविता की

शुष्कता नहीं है, बल्कि विषयानुकूल काव्योचित लालित्य, सरसता और ओज भी है, यद्यपि शैली मूलतः वर्णनात्मक ही है। आवश्यकतानुसार इन कवियों ने संस्कृत वृत्तों में भी कविता की और हिन्दी के मात्रिक छन्दों में भी और छायावादी कविता से प्रभावित होकर अतुकान्त और छन्द-मुक्त कविता भी लिखी है। इन्होंने प्रबन्ध-काव्य, खण्ड-काव्य और प्रगीत-मुक्तकों की भी रचना की है। विशेषकर अपने गीतों में इनमें से अधिकांश ने छायावाद की देखा-देखी लाक्षणिक व्यंजना और अप्रस्तुतों की योजना भी करनी चाही है, लेकिन इस तरह के प्रयोग बहुत सफल नहीं हुए। उनकी अन्तःप्रकृति और काव्य-मनोभूमि से छायावादी शैली का पूरा मेल नहीं बैठता, लगता है जैसे यत्न-साध्य ऊपर से ओढ़ा हुआ परिधान है, अन्तर्भाव को प्रकट करने के लिए अभिव्यक्ति का स्वाभाविक रूप-प्रकाश नहीं। उनकी दृष्टि मूलतः बहिर्मुखी है, इसलिए राष्ट्र-जीवन की सम-सामयिक हलचलों में निरंतर रमती चली आई है, अन्तर्मुखी होकर व्यक्ति-चेतना की अगम गहराइयों में नहीं उतर पायी। विशेषकर लोक-प्रचलित पौराणिक आख्यानों, इतिहास वृत्तों और देश की राजनीतिक घटनाओं से इन्होंने अपने काव्य की विषय-वस्तु को सजाया है, इन आख्यानों, वृत्तों और घटनाओं के चयन में उपेक्षितों के प्रति सहानुभूति, देशानुराग और सत्ता के प्रति विद्रोह का स्वर मुखर है। यह एक प्रकार से राजनीति में राष्ट्रीय आन्दोलन और काव्य में स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति के बीच पलने और बहने वाली कविता की बहिर्मुखी धारा है, जिसने हिन्दी-भाषी जनता को आधुनिक जीवन के व्यक्ति-समाज सम्बन्धी गहरे तात्विक प्रश्नों के प्रति नहीं तो राजनीतिक पराधीनता और राष्ट्रीय संघर्ष की आवश्यकता के प्रति सचेत बनाने में बहुत बड़ा काम किया है। स्थूलरूप से इस धारा को राष्ट्रीय-धारा कह सकते हैं, लेकिन छायावादी कविता भी अ-राष्ट्रीय नहीं है। एक ही जीवन-वास्तव की ये स्थूल और सूक्ष्म, बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी प्रतिक्रियाएं हैं। बल्कि छायावादी

कवियों ने आधुनिक जीवन के केन्द्रीय प्रश्नों को उठाकर राष्ट्रीय-चेतना में गहरी अन्तर्दृष्टि पैदा की है। सामान्यतः ये बातें इस समूची धारा के बारे में कही जा सकती हैं, किन्तु हर कवि का व्यक्तित्व, प्रतिभा, कृतित्व और शैली का अपना वैशिष्ट्य है।

अयोध्यासिंह उपाध्याय[1] (सन् १८६५-१९४१ ई०) भारतेन्दु के जीवन-काल में ही कविता करने लगे थे, किन्तु उस समय वे ब्रज-भाषा में लिखते थे। सन् १८८२ में उन्होंने 'श्रीकृष्ण शतक' की, सत्रह वर्ष की अवस्था में, रचना की, जिसमें सौ दोहे संग्रहीत हैं। इसके अनन्तर सन् १९१४ में 'प्रिय-प्रवास' के प्रकाशित होने तक वे ब्रजभाषा में ही काव्य-रचना करते रहे। सभी रचनाएँ कृष्ण-सम्बन्धी थीं, जिनमें कहीं कृष्ण को परब्रह्म के रूप में, तो कहीं मानव-रूप में चित्रित किया गया था। 'खड़ी-बोली आन्दोलन' के प्रभाव में आकर उन्होंने 'प्रिय-प्रवास' की रचना के पूर्व भी हिन्दी में कभी-कभी कुछ लिखा था, लेकिन बहुधा उर्दू के छन्दों और ठेठ बोली में ही। 'प्रिय-प्रवास' हिन्दी का पहला महाकाव्य है। इसमें उपाध्यायजी ने आद्यन्त संस्कृत के वर्ण-वृत्तों का प्रयोग किया है। शैली वर्णनात्मक है, जिसमें सूक्ष्म से सूक्ष्म भावों की व्यंजना हुई है। आचार्य शुक्ल का मत है कि "इसकी कथा-वस्तु एक महाकाव्य क्या अच्छे प्रबन्ध-काव्य के लिए भी अपर्याप्त है।

---

१. पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय निजामाबाद के निवासी थे। प्रारंभ में तहसीली स्कूल के अध्यापक, फिर क़ानून गो और अन्त में काशी विश्वविद्यालय के अठारह वर्ष तक अवैतनिक अध्यापक रहे। आपने खड़ी-बोली में दो महाकाव्यों की रचना की 'प्रिय-प्रवास' (१९१४) और 'वैदेही-वनवास' (१९४१)। चोखे चौपदे (१९२४), पद्य-प्रसून (१९२५), 'चुभते चौपदे', 'बोलचाल', 'पारिजात' आदि स्फुट काव्य-संग्रह हैं। ब्रज-भाषा में भी आपकी अनेक रचनाएँ हैं, किन्तु उनका उल्लेख यहाँ अभिप्रेत नहीं है।

अतः प्रबन्ध-काव्य के सब अवयव इसमें कहाँ आ सकते।" हमारा मत शुक्ल जी के मत से किंचित् भिन्न है। यह ठीक है कि महाकाव्य होने के लिए काव्य-वस्तु भी इतनी विशाल होनी चाहिए कि उसमें जीवन का सर्वांगीण चित्रण हो सके। लेकिन 'प्रिय-प्रवास' की संक्षिप्त कहानी—कृष्ण का ब्रज से मथुरा को प्रवास और फिर लौट कर आना—और उसकी काव्य-वस्तु दो भिन्न चीजें हैं। रूढ़ि-रीति ग्रस्त दृष्टि के कारण ही यह भेद ऊपर से दिखाई नहीं देता। 'हरिऔध' जी की विशेषता यह है कि उन्होंने इस छोटी-सी कहानी के भीतर ही कृष्ण-जीवन का पूरा वृत्त और उसके माध्यम से समाज के विविध अंगों, समस्याओं आदि को झलका दिया है। कृष्ण के चले जाने पर ब्रजवासियों में कृष्ण-सम्बन्धी चर्चाएँ चलती हैं, ऊधो के आगमन पर छै महीने तक कृष्ण की बाल-लीलाओं और ब्रज की जनता की रक्षा के निमित्त किये गये कार्य-कलापों और ब्रज की स्मृतियाँ मुखर हो उठती हैं। इस प्रकार काव्य-वस्तु केवल कृष्ण के प्रवास-प्रसंग तक ही सीमित नहीं है। यदि और भी सूक्ष्मता से देखा जाय तो प्रबन्ध-रचना और यथार्थ-चित्रण की पद्धति का मनोरम रूप प्रिय-प्रवास में व्यक्त हुआ है—सीधे-सीधे एक छोर से दूसरे छोर तक ब्यौरेवार कहानी का वर्णन करने की अपेक्षा केन्द्रीय प्रसंग से आगे-पीछे हटकर स्मृति और कांक्षा के योग से जो कहानी कही जाती है, वह अधिक मनोवैज्ञानिक भी होती है और जीवन के विविध अन्तर्सम्बन्धों और अन्तर्सूत्रों को भी उदघाटित करने में अधिक समर्थ होती है। इसलिए वस्तु-योजना का इस महाकाव्य में काफ़ी संश्लिष्ट और विशद रूप मिलता है। यह ठीक है कि संस्कृत के वर्णवृत्तों और बंगला की कोमल-कान्त-पदावली के कारण शैली जितनी सरस है, उतनी ही बोझिल और गतिहीन भी।

'प्रिय-प्रवास' में कृष्ण अपने शुद्ध-मानव रूप में, विश्व-कल्याण-कार्य में निरत एक जन-नेता के रूप में अंकित किये गये हैं। आचार्य शुक्ल ने 'साकेत' की आलोचना करते हुए यकायक सूत्र-रूप में एक

भयंकर पुराणपन्थी बात कही है, जो न जाने क्यों 'प्रिय-प्रवास' के प्रसंग में कहना वे भूल गये। उन्होंने लिखा है—"किसी पौराणिक या ऐतिहासिक पात्र के परम्परा से प्रतिष्ठित स्वरूप को मनमाने ढंग पर विकृत करना हम भारी अनाड़ीपन समझते हैं।" लेखक और कलाकार को यदि परम्परा से इतना बँध कर चलने की बाध्यता हो तो पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यानों और पात्रों को अंकित करने की सार्थकता ही न रह जाय। कोई सच्चा कलाकार अनुकृति नहीं रचता। किसी विषय-वस्तु के द्वारा यदि वह अपने युग की केन्द्रीय समस्याओं का उद्घाटन नहीं कर सकता, यदि नये सत्य को झलका नहीं पाता तो केवल पुनरावृत्ति के लिए उस पर क़लम या तूलिका नहीं उठाता। यह सामान्य नियम है। वाल्मीकि रामायण में राम का मानव-चरित्र अंकित हुआ है, किन्तु तुलसीदास ने उन्हें मर्यादा पुरुषोत्तम बना दिया है। इनमें से राम के किस रूप को परम्परा से प्रतिष्ठित माना जाय? यदि वाल्मीकि के राम को, तो तुलतीदास का 'भारी अनाड़ीपन' शुक्ल जी को क्यों नहीं खला? या अलौकिक से लौकिक बनाने में ही 'मनमाने ढंग पर विकृत' करने का लांछन लगता है? राधा का ही परम्परा से प्रतिष्ठित कौन-सा रूप है? जयदेव की विलासिनी, प्रेम-विह्वला राधा; विद्यापति की यौवनोन्मत्त मुग्धा नायिका जैसी राधा; चण्डीदास की परकीया नायिका जैसी राधा; सूरदास की मर्यादा-संतुलित नागरी राधा; नन्ददास की तार्किक राधा या रीतिकाल की उच्छृंखल, अल्हड़ किशोरी राधा—इनमें से राधा का कौन-सा रूप परंपरा प्रतिष्ठित माना जाय? क्या हर युग के कवियों ने अपने-अपने जीवनादर्शों के अनुकूल 'राधा' की कल्पना नहीं की? अयोध्यासिंह उपाध्याय ने भी हिन्दी को एक नई 'राधा' दी—आधुनिक युग की प्रबुद्ध नारी के रंग में रंगी। वस्तुतः 'प्रिय-प्रवास' में उन्होंने समय से पहले ही राष्ट्र-जीवन की एक केन्द्रीय समस्या की पूर्व-झलक दे दी है और उसका आदर्शवादी, अतः स्थूल समाधान भी उपस्थित किया है—इस समस्या को बाद में एक गंभीर

मनोवैज्ञानिक समस्या के रूप में रवीन्द्रनाथ ठाकुर और कुछ दिन पहले जैनेन्द्रकुमार ने अपने उपन्यासों (घर और बाहर तथा सुखदा) में उठाया। 'प्रिय-प्रवास' में इस समस्या की प्रारंभिक झलक हमें मिली। समस्या है स्थानीय और सार्वदेशिक, व्यक्तिगत और सकल मानवगत हितों, राग-संबंधों के वैषम्य और परस्पर समन्वय की। स्वच्छन्दतावाद का यह पहला रूप है, जब व्यक्तिवादी चेतना इतनी मुखर नहीं हुई कि व्यष्टि और समष्टि के हितों में दुर्निवार वैषम्य दीखे और अत्यन्त जटिल मनोवैज्ञानिक समस्याएँ पैदा हो गई हों। आदर्शवादी ढंग से दोनों में समन्वय अभी संभव है। लेकिन उससे दोनों का अस्तित्व नहीं मिट जाता, और इसकी स्वीकृति ही ऐसी करुणाजनक स्थिति पैदा कर देती है, जो काव्य-वस्तु का आधार बन सकी। राष्ट्रीय संघर्ष को आगे बढ़ाने और देश की प्रगति में हाथ बँटाने के लिए प्रबुद्ध जनों को अपने घर-बार छोड़कर देश के कोने-कोने में अलख जगाते फिरना होगा, किन्तु अपने प्रियजनों का मोह, क्या इस साधना को विफल नहीं कर देगा, प्रिय-जन इस वियोग को सहन कर सकेंगे ? क्या स्त्रियाँ, प्रेमिकाएं भी इस अनुष्ठान में योग दे सकेंगी ?—यह हमारे राष्ट्रीय-जागरण और संघर्ष की ही समस्या थी। इसी समस्या को मूर्त्त काव्य-रूप देने के लिए उपाध्याय जी ने ब्रज से कृष्ण-प्रवास का मार्मिक प्रसंग चुना, और बिना किसी प्रकार का 'अनाड़ीपन' किये उसके माध्यम से युग-जीवन की यह केन्द्रीय समस्या झलका दी। कृष्ण मथुरा गये और विश्व-कल्याण और राजनीति की समस्याओं में इतने उलझे कि लौट कर वापस न आ सके, लेकिन उनका हृदय ब्रजभूमि में ही रमा रहा। उद्धव के समझाने पर ब्रजवासियों को कृष्ण के बाहर रहने की अनिवार्यता समझ में आगई और विरह-विदग्ध राधा ने चिर कौमार्य का व्रत धारण कर लोक-सेवा के लिए अपना जीवन अर्पित कर दिया। राधा के मन की गति का इस एक छन्द से ही आभास मिल सकता है :

प्यारे आवें, सु-वजन कहें, प्यार से गोद लेवें।
ठंडे होवे, नयन-दुःख हो दूर, मैं मोद पाऊं॥
ए भी हैं भाव मम उर के और ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें, जगहित करें, गेह चाहे न आवें॥

उपाध्याय जी की अन्य रचनाएँ इस कोटि की नहीं बन पड़ीं। उनके दूसरे महाकाव्य 'वैदेही-वनवास' में भी लोक-संग्रह की यही भावना व्याप्त है, लेकिन उसमें उन्होंने कोई नई भूमि नहीं नापी। चोखे और चुभते चौपदों में भाषा-प्रयोग का चमत्कार कहीं-कहीं ज़रूर मिल जाता है, लेकिन उतना ही पर्याप्त नहीं है।

मैथिलीशरण गुप्त[1] (सन् १८८६) हिन्दी के राष्ट्र-कवि के रूप में विख्यात हैं। सन् १९०७ से ही आपकी कविताएँ आचार्य महावीर-प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'सरस्वती' में छपने लगी थीं। उन दिनों बोल-चाल की भाषा में लिखी इतिवृत्तात्मक कविताओं का ही ज़ोर था। गुप्त जी ने भी इसी शैली में लिखना आरम्भ किया। सन् १९१० में इनका 'रंग में भंग' नाम का एक छोटा-सा प्रबन्ध-काव्य छपा, लेकिन सब से पहले इनकी कीर्ति 'भारत-भारती' के कारण फैली। यह मौलाना हाली के 'मुसद्दस' के ढंग पर लिखी गई थी। मौलाना हाली ने मुसद्दस की रचना करके मुसलमानों में जाग्रति फैलाई थी। गुप्त जी ने भी 'भारत-भारती' में हिन्दुओं के अतीत वैभव और गौरव की अपेक्षा में

---

१. गुप्त जी चिरगाँव (झाँसी) के निवासी हैं। आपके मौलिक और अनूदित काव्य-ग्रन्थों की संख्या लगभग ३० से ऊपर है। इनमें महाकाव्य, खण्ड-काव्य, गीति-काव्य और गीत-नाट्य सभी प्रकार की रचनाएँ हैं। मुख्य-मुख्य रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—'भारत-भारती', 'जयद्रथ-वध', 'पंचवटी', 'साकेत', 'यशोधरा', 'झंकार', 'मंगल-घट', 'द्वापर'। अनूदित ग्रन्थों में 'विरहिणी व्रजांगना', 'मेघनाथ-वध', 'पलासी का युद्ध' और 'उमर ख़ैयाम' हैं।

वर्तमान हीन-दशा का वर्णन करके हिन्दू-जनता को उदबुद्ध करना चाहा। काव्य की मर्म-बोधिनी रसात्मकता न रहने पर भी यह पुस्तक उस समय हिन्दू-युवकों में बहुत लोक-प्रिय हुई। इसमें साम्प्रदायिक संकीर्णता और अंग्रेज़ी-राज्य के प्रति भक्ति और प्रशंसा के भाव भी मिलते हैं, जो भारतेन्दु-कालीन दृष्टिकोण के अवशेष-चिह्न समझने चाहिए। आगे चलकर गुप्त जी की दृष्टि अधिक व्यापक और उदार मानववादी हो गई।

उपाध्याय जी और इस धारा के अन्य कवियों की तरह गुप्त जी का दृष्टिकोण भी मूलतः आदर्शवादी और भावनामूलक है। वस्तून्मुखी मनोवैज्ञानिकता या गहरे संवेदनशील मर्मबोध की उनमें भी कमी है, इसलिए अगले काव्य-ग्रन्थों में, यद्यपि उनकी शैली का परिष्कार हो गया है और उन्होंने उत्कृष्ट काव्यों की भी रचना की है, लेकिन नई भाव-भूमियों का उद्घाटन करने वाली तल-स्पर्शी दृष्टि का विकास वे नहीं कर सके, जीवन के केवल गोचर-दृश्य का ही अंकन करते रहे।

'रंग में भंग' के बाद 'जयद्रथ-बध', 'गुरुकुल', 'किसान', 'पंचवटी', 'सिद्धराज' आदि आपके अनेक छोटे-छोटे प्रबन्ध-काव्य छपे, जिनमें से जयद्रथ-बध और पंचवटी को साहित्य-क्षेत्र में काफ़ी सम्मान मिला। इस बीच आप वर्षों तक अपने महाकाव्य 'साकेत' की रचना में संलग्न रहे, जो सन् १९३१ में प्रकाशित हुआ। 'साकेत' और उसके बाद 'यशोधरा' गुप्त जी की स्थायी कीर्ति के दो स्तम्भ हैं। 'साकेत' रचकर गुप्त जी ने महाकाव्यों की परम्परा में एक युगान्तर उपस्थित कर दिया। उपाध्याय जी की राधा कवियों की कभी उपेक्षिता नहीं रही, जयदेव से लेकर 'रत्नाकर' तक ने राधा के काव्य-चरित्र का अंकन किया था। लेकिन राम-काव्य की परम्परा के कविगण अयोध्या से वन-गमन करते ही राम के साथ-साथ लंका तक तो भ्रमण कर आते थे, मगर अयोध्या और वहाँ के लोगों का ध्यान भी न लाते थे। विशेषकर लक्ष्मण से वियुक्त उर्मिला तो उपेक्षित ही रह जाती थी। गुप्त जी का भावनाशील कवि-

हृदय राम के साथ वनगमन को तत्पर नहीं हुआ, अयोध्या में ही रम रहा। इसलिए 'साकेत'; और साकेत के नायक भरत और नायिका उर्मिला हैं।

साकेत के राम वाल्मीकि के लोक-प्रतिनिधि, वीर-चरित और तुलसीदास के मर्यादा पुरुषोत्तम लीलावतारी राम से भिन्न हैं। वे एक सामान्य मानव हैं और अपनी मानवता के उत्कर्ष द्वारा ही ईश्वरत्व के अधिकारी हैं। भरत, उर्मिला, कैकेयी, सुमित्रा आदि सभी सामान्य मानव-प्राणी हैं। यद्यपि उनके व्यक्तित्व अलग-अलग और विशिष्ट हैं। हर पात्र के व्यक्तित्व की मर्यादा की रक्षा करते हुए गुप्त जी ने व्यक्तिवाद और समत्व की भावनाओं का समन्वय करने की चेष्टा की है। इसके साथ ही साकेत में तत्कालीन राजनीतिक आन्दोलनों की अनुगूँज भी सुनाई देती है, जैसे उर्मिला द्वारा सैनिकों को अहिंसा की शिक्षा देना, प्रजा के अधिकारों की चर्चा, राम के वनगमन के अवसर पर अयोध्यावासियों का सत्याग्रह, विश्व-बन्धुत्व और मानववाद के आदर्शों की प्रतिष्ठा आदि। ये सामयिक घटनाओं के प्रभाव हैं, जो कवि ने काफ़ी सावधानी से ग्रहण किये हैं। साकेत में वर्णनात्मक और प्रगीतात्मक दोनों शैलियों का सम्मिश्रण है। पहले आठ सर्गों में राम के अभिषेक की तैयारी से लेकर चित्रकूट में भरत-मिलन तक, कथा-सूत्र वर्णनात्मक शैली में व्यवस्थित रूप से चलता है। इसके बाद नवें सर्ग में उर्मिला की वियोगावस्था की मनस्थितियों का प्रगीतात्मक वर्णन है। कथा-सूत्र इस बीच थमा रहता है। दसवें सर्ग में उर्मिला अपने शैशवकालीन अतीत का स्मरण करती है। ग्यारहवें-बारहवें सर्गों में सहसा भरत के बाण से हनुमान के गिरने की घटना के पश्चात् अयोध्या के राजपरिवार के दैनिक-जीवन की झांकी मिलती है और शत्रुघ्न और मांडवी के मुख से दंडकारण्य से लेकर लंका तक की घटनाएँ सुनने को मिलती हैं। अन्त में, राम के वापस लौटने और लक्ष्मण-उर्मिला मिलन से काव्य की समाप्ति होती है। इन अन्तिम चार सर्गों में, विशेषकर दो सर्गों में वस्तु-व्यापार का

काव्योचित विकास नहीं हो पाया, जिससे काव्य में शिथिलता आ गई है। ऐसी और भी अनेक त्रुटियाँ दिखाई जा सकती हैं, किन्तु फिर भी समग्र रूप से साकेत एक श्रेष्ठ काव्य है। और उसने आधुनिक महाकाव्यों की परम्परा का सूत्रपात किया है।

यशोधरा की रचना प्राचीन चंपू के ढंग की है। मार्मिक भावों की व्यंजना गीतों में है और कथा-सूत्र कहीं-कहीं गद्य में है। गुप्त जी ने लिखा है कि यशोधरा की ओर संकेत उर्मिला ने ही किया। बुद्ध यशोधरा को आधी रात के समय सोती छोड़ कर चले गये। उर्मिला के लिए अवधि का सहारा था लेकिन यशोधरा के लिए वह भी नहीं था। उसे त्याग का गौरव भी नहीं मिल पाया। उपेक्षित यशोधरा के मन की पीड़ा, उसकी समस्त आत्मा का उपालम्भ केवल इतना है कि वे उससे कहकर क्यों न गये :

जायँ, सिद्धि पावें वे सुख से
दुखी न हों इस जन के दुख से
उपालंभ दूँ मैं किस मुख से ?
आज अधिक वे भाते !
सखि वे, मुझ से कहकर जाते।

विरहिणी यशोधरा और कुमार राहुल का चरित्र-चित्रण इस काव्य में अत्यन्त करुणोत्पादक और मार्मिक हुआ है। प्रबन्ध-काव्यों के अतिरिक्त, मुख्यतः छायावाद के प्रभाव में गुप्त जी गीत-मुक्तकों की ओर भी झुके। साकेत के नवें सर्ग और यशोधरा के गीतों पर भी लाक्षणिक व्यंजना का प्रभाव दिखाई देता है। उनकी स्फुट कविताओं के संग्रह 'झंकार' और 'मंगल-घट' में विशेष रूप से इस शैली के गीत संकलित हैं।

इन दो महाकवियों के अतिरिक्त इस धारा में और अनेक प्रतिभा-सम्पन्न कवि योग देते आये हैं। **गयाप्रसाद शुक्ल सनेही**[1] (जन्म १८८३ ई०)

---

१. **गयाप्रसाद शुक्ल सनेही की मुख्य रचनाएँ हैं—त्रिशूल तरंग, मानस-तरंग, कृषक-क्रन्दन, करुणा भारती और कुसुमाञ्जलि।**

की सरल-कोमल और ओजस्वी कविताएं काफ़ी लोक-प्रिय रही हैं। **'तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ'** की विनय-शील भावुकता के साथ-साथ उनमें **'जी न चुराओ रण से, समर सूरवत डटे रहो'** का उद्धत घोष भी है। **माखनलाल चतुर्वेदी** 'एक भारतीय आत्मा'[२] (जन्म १८८८ ई०) की कविता उनके कर्मठ राष्ट्र-सेवी जीवन की समताल पर चली है। उनके व्यक्तिवाद की परिणति देश के स्वतंत्रता-संग्राम में बलिदान होने की भावना में हुई—"मुझे तोड़ लेना बन माली! उस पथ पर देना तुम फेंक। मातृ-भूमि पर शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।" **रामनरेश त्रिपाठी**[३] (जन्म १८८६ ई०) के तीनों खंड-काव्य जो सन् ३० के राष्ट्रीय-आन्दोलन के दिनों प्रत्येक राष्ट्र-प्रेमी युवक के कण्ठहार बने हुए थे, अभी तक विस्मृत नहीं हुए। इन प्रबन्ध-काव्यों में त्रिपाठी जी ने उपाध्याय जी या गुप्त जी की तरह पौराणिक आख्यानों या इतिहास के पात्रों को नहीं लिया, स्वयं अपनी कल्पना से उनके पात्रों की सृष्टि की। इनके अधिकतर पात्र उनकी देश-भक्ति-पूर्ण भावनाओं के प्रतीक बनकर सामने आते हैं। आदर्शोन्मुखी, भावना-प्रधान शैली और भाव-भूमि के कारण ही वे सर्वांग-सजीव पात्रों की सृष्टि नहीं कर पाये, लेकिन युग की भावनाओं के साथ मिलकर उनकी भाषा और अभिव्यक्ति इतनी सजीव है कि सहज ही प्रभाव डालती है। स्थल-स्थल पर प्रकृति-चित्रण का भी भव्य-रूप देखने को मिलता है—"प्रतिक्षण नूतन वेष बनाकर रंग-बिरंग निराला। रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला।" तीनों काव्य देश-भक्ति की भावना से प्रेरित हैं। 'स्वप्न' में मनोवैज्ञानिक द्वन्द्व भी मिलता है। प्रियतमा के प्रेम-साहचर्य का सुख

---

२. माखनलाल चतुर्वेदी के अभी तक केवल दो कविता-संग्रह प्रकाशित हुए हैं—हिमकिरीटिनी और हिमतरंगिनी।

३. रामनरेश त्रिपाठी ने तीन खंड-काव्य रचे—पथिक, मिलन और स्वप्न। मानसी उनकी फुटकर कविताओं का संग्रह है।

और असंख्य पीड़ित जनों के आर्तनाद को सुनकर जाग्रत कर्तव्य-विवेक दोनों अपनी-अपनी ओर आकर्षित करते हैं। इस तरह प्रेम और कर्तव्य के द्वन्द्व को लेकर चलने वाला यह काव्य राष्ट्रीय-आन्दोलन द्वारा उठाई समस्या को ही अत्यन्त मार्मिक ढंग से प्रतिबिम्बित करता है। **ठाकुर गोपाल शरण सिंह**[1] (जन्म १८६१ ई०) की यह प्रार्थना अभी तक विस्मृत नहीं हुई—'पृथ्वी पर ही मेरे पद हों, दूर सदा आकाश रहे' और इस पृथ्वी पर ही खड़े होकर उन्होंने नारी को दुलहिन के सुहाग-भरे रूप में भी देखा और देवदासी, उपेक्षिता, अभागिनी, भिखारिनी, वारांगना के समाज-विकृत अभागे रूप में भी। तभी 'तेरे दुःख की दुःख ज्वालाएं, मेरे मन में हैं छन्द हुई' का चीत्कार कवि के हृदय से निकल पड़ा। उन्होंने हिंदी में ब्रजभाषा के छंदों का सफलता-पूर्वक प्रयोग किया और उनकी भाषा और शैली अत्यन्त सरस और मार्मिक है। **सियारामशरण गुप्त**[2] (जन्म १८६५ ई०) करुण-भावना के कवि हैं। उनकी कविताओं में सात्विक और शान्त भाव प्रकट हुआ है, लेकिन काव्यत्व की जगह गद्यात्मकता ही अधिक है। वे भाषा को काव्योचित नहीं बना पाये, और पाठक को अक्सर क्लिष्ट, 'अव्यवहृत संस्कृत शब्दों की ठोकरें' लगती जाती हैं। विचार-तल पर वे गांधीवाद, मानववाद और कुछ-कुछ रहस्यवाद से प्रभावित हैं, और अपनी कविताओं में इन विचार-जन्य अमूर्त्त भावनाओं की मंजूषा भी सजाते हैं, लेकिन अभी तक वे किसी नई भाव-भूमि का परिदर्शन नहीं करा सके—अधिकतर भावनाएँ

---

१. ठाकुर गोपालशरणसिंह की रचनाएँ—माधवी, कादम्बिनी, मानवी, ज्योतिष्मती, सञ्चिता, सुमना।

२. सियारामशरण गुप्त की रचनाएँ—मौर्य-विजय, अनाथ, दूर्वादल, विषाद, आर्द्रा, आत्मोत्सर्ग, पाथेय, मृण्मयी, बापू, उन्मुक्त, दैनिकी, नकुल आदि।

तलवर्ती हैं। **अनूप शर्मा**[1] इसके विपरीत हिंदी में वीररस के कवि प्रसिद्ध हैं। आपने कवित्त छंद में हिंदी को सुघरता से ढाला है। आरंभ में आप ब्रज-भाषा के ही कवि थे, लेकिन फिर हिंदी में लिखने लगे। ऐतिहासिक और सामाजिक सभी विषयों पर आपकी दृष्टि गई है। 'सुनाल' नाम के खंड-काव्य में अंकित कुणाल के चरित्र ने सब से पहले लोगों का ध्यान आकर्षित किया। अठारह सर्गों के भीतर संस्कृत के शिखरिणी, मंदाक्रांता, स्रग्धरा आदि वर्ण-वृत्तों में आपने बुद्ध-चरित को लेकर एक महाकाव्य भी रचा। इसके पश्चात् आपने और भी अनेक खण्ड-काव्य और फुटकर कविताएँ लिखी हैं। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान द्वारा उद्घाटित सृष्टि और जीवन-संबंधी नये तथ्यों को भी आपने मार्मिक रूप में काव्योचित अभिव्यक्ति दी है। **गुरु भक्तसिंह भक्त**[2] (जन्म १८६३ ई०) को लोग छायावाद की 'नई धारा' के कवियों में भी गिनते हैं, क्योंकि प्रकृति-चित्रण के लिए आप प्रसिद्ध हैं। लेकिन वस्तुतः आप पूरी तरह दोनों में से किसी एक धारा में नहीं खपते। आपके प्रबन्ध-काव्य 'नूरजहां' की स्मृति आज भी शेष है। सन् ३४-३५ के दिनों 'नूरजहां' उतनी ही लोक-प्रिय थी, जितना 'पथिक' और 'मिलन'। आपकी शैली प्रधानतः वर्णनात्मक है, और भाषा सरल और मुहावरेदार। लेकिन इस धारा की यशस्वी कवियत्री हैं दिवंगता **सुभद्राकुमारी चौहान**[3] (सन् १६०४–१६४७ ई०)। इनकी वर्णनात्मक शैली में जो भाव-तन्मयता, ओजस्विता और प्रवाह है वह अन्यत्र दुर्लभ रहा। उनकी कविता के दो स्वर हैं, एक में राष्ट्रीय

---

१. अनूप शर्मा की मुख्य-मुख्य रचनाएँ—सुनाल, सिद्धार्थ, सुमनांजलि आदि।

२. गुरु भक्तसिंह 'भक्त' की रचनाएँ—नूरजहां (प्रबन्ध-काव्य), सरस-सुमन, कुसुम-कुंज, वंशी-ध्वनि, वनश्री आदि।

३. सुभद्राकुमारी चौहान की रचनाएँ—त्रिधारा, मुकुल।

भावनाओं का स्फूर्तिदायी उद्घोष, तड़प और ओज है तो दूसरे में पारिवारिक जीवन की सरसता, वात्सल्य की गरिमा और मधुरता को व्यक्त करने वाली सुकुमारता और कोमलता है। गहरे, दार्शनिक विचारों और व्यापक विश्व-बोध का उनकी कविताओं में यदि अभाव है तो उसकी क्षति-पूर्ति पारिवारिक और देश-प्रेम की उत्सर्ग-भावनाओं द्वारा हो जाती है, जिससे वे सहज ही हृदय को छू लेती हैं। "चमक उठी सन् सत्तावन में वह तलवार पुरानी थी! बुन्देले हरबोलों के मुँह हमने सुनी कहानी थी—खूब लड़ी मरदानी वह तो झाँसी वाली रानी थी!" ने हर भारतवासी का मस्तक ऊँचा उठाया है। जिस समय हमारे भारतेन्दुकालीन कवि 'धन्य तिहारो राज, अरी मेरी महारानी!' (प्रतापनारायण मिश्र) लिखकर 'भारतेश्वरी', 'आर्येश्वरी', 'माता', 'देवी', विक्टोरिया की प्रशस्तियाँ गाते थे और सन् सत्तावन के राज-द्रोह की—"देसी मूढ़ सिपाही कछुक लै कुटिल प्रजा संग। कियो अमित उत्पात, रच्यो निज नासन को ढंग॥' (बद्रीनारायण 'प्रेमघन') कहकर भर्त्सना कर रहे थे, उन्हीं दिनों ब्रज और बुन्देली के लोक-गीतों में जनता के कण्ठ से अनायास ये कृतज्ञता-भरे शब्द फूट रहे थे—'खूब लड़ी मर्दानी, अरे झाँसी वाली रानी।...सगरे सिपाहियों को पेड़ा जलेबी, आपने चबाई गुड़धानी। अरे झाँसी वाली रानी, खूब लड़ी मर्दानी।" भारतीय जनता की सच्ची भावनाओं को व्यक्त करने वाले इस लोक-गीत का उद्धार और संस्कार करके सुभद्राकुमारी चौहान स्वयं चिरकाल के लिए भारतीयों की कृतज्ञता की पात्र बन गई हैं। इससे अधिक ओजस्वी जन-गीत हिन्दी में और कोई नहीं रच सका। इस प्रसंग के अंत में **श्यामनारायण पांडे**[1] (जन्म सन् १९१० ई०) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वीररस और करुणरस के आप प्रसिद्ध कवि हैं। आप

---

1. श्यामनारायण पाण्डे की रचनाएँ—त्रेता के दो वीर, हल्दी-घाटी, जौहर, गोरावध, आरती, तुमुल, रूपान्तर आदि।

की वर्णात्मक शैली अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक प्रगल्भ और वेगवती है। 'हल्दी-घाटी' नाम से १७ सर्गों में रचे गये आपके महाकाव्य में युद्ध का आवेगपूर्ण और चित्रमय सजीव वर्णन जगनिक कवि (सन् ११७३ ई०) की 'आल्हा' का स्मरण दिलाता है—"वारिद के उर में चमक-दमक, तड़-तड़ थी बिजली तड़क रही। रह-रह कर जल था बरस रहा, रणधीर भुजा थी फड़क रही॥......वैरी दल को ललकार गिरी, वह नागिन सी फुफकार गिरी। था शोर मौत से बचो-बचो, तलवार गिरी, तलवार गिरी।" में भाषा अभिव्यक्ति और भावना का आवेग तो बहुत है, लेकिन व्यापक वस्तून्मुखी जीवनादृष्टि का अभाव है। इसके अतिरिक्त हमारा विचार है कि जिन्होंने मुस्लिम राजत्व-काल से ऐतिहासिक घटना-प्रसंग लेकर स्फुट कविताओं या प्रबन्ध-काव्यों की रचना की है, उनके पात्र चाहे शिवाजी और प्रताप जैसे वीर-चरित्र ही क्यों न हों, वे देश की सामयिक परिस्थिति में व्यापक राष्ट्रीय भावना का पोषण करने में सफल न हो सके, ऐसी रचनाओं में सर्वजनीनता के स्थान पर साम्प्रदायिक संकीर्णता का आ जाना अनिवार्य है। एकता-विधायिनी साम्राज्य-विरोधी स्वातंत्र्य-भावना में ऐसी रचनाएँ कवि द्वारा न चाहने पर भी मध्य-कालीन भारत के हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की स्मृतियों को जगाकर अनिवार्यतः एक विक्षेप उपस्थित कर देती हैं, जो शुद्ध राष्ट्रीय-भावना का उदात्त स्वरूप स्थिर करने में बाधक होता है। पौराणिक या पूर्व-मध्यकालीन आख्यान भारतीय हिन्दू अथवा बौद्ध-संस्कृति के प्रतीक होते हुए भी सर्वजन-संवेद्य हो सकते हैं, या कम से कम राष्ट्रीय-भावना में विक्षेप नहीं उपस्थित करते।

हमने राष्ट्रीय जाग्रति से प्रेरित आदर्श-भावना का रूप-संस्कार करके अधिकतर निर्वैयक्तिक दृष्यस्तर पर काव्य-रचना करने वाले वर्णनात्मक पद्धति के उन मुख्य-मुख्य कवियों को ही लिया है जिनका कृतित्व अपनी धारा की सामान्य परिधि के भीतर भी विशिष्ट और महत्वपूर्ण है। श्रीधर पाठक से लेकर श्यामनारायण पाण्डे तक इस धारा का प्रवाह

कभी विच्छिन्न नहीं हुआ। काल-क्रम की दृष्टि से, प्रिय-प्रवास और इतर कुछ रचनाओं को छोड़ कर, इस धारा की अधिकांश रचनाएँ भी छायावाद-युग में या दो महायुद्धों के बीच ही रची गईं, लेकिन फिर भी हमने उन्हें पूर्व-छायावाद-युग में ही रखा है, क्योंकि यह धारा जिस काव्यादर्श को लेकर चलती रही—इसके शब्द-प्रयोग, भाषा परिपाटी, अनुभूति-प्रकार, चित्रण-क्रम, वस्तु-विन्यास आदि—वह पूर्व-छायावाद-युग का ही काव्यादर्श है। इसके भाव-संकेत और भावना-संस्कार भी पूर्व-छायावाद-युग के हैं। छायावाद-युग में काव्यादर्श बदल गया, कवियों का विश्व-बोध, उनकी जीवन-दृष्टि और उनकी अनुभूति और अभिव्यंजना का रूप-प्रकार सभी मौलिक रूप से बदल गये, जिससे ये कवि भी प्रभावित हुए। किन्तु फिर भी छायावाद की मुख्य-धारा में पुरानी धारा का पूरी तरह पर्यवसान नहीं हो पाया।

छायावाद-युग

हम पहले कह चुके हैं कि छायावाद या स्वच्छन्दतावाद की मूलवर्ती भावना आधुनिक औद्योगिक युग से प्रेरित व्यक्तिवाद है। इस वक्तव्य का पूरा अर्थ समझ लेना चाहिये। प्रारंभ में आचार्य द्विवेदी और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जैसे आलोचकों ने भी छायावादी कवियों पर पाश्चात्य कविता का अनुकरण करने का आरोप लगाया था। बाद में जब छायावादी कविता को मान्यता प्राप्त हो गई तो हिन्दी-आलोचकों ने यह स्वीकार कर लिया कि छायावादी कविता हमारे देश की राष्ट्रीय जाग्रति की हलचल में ही पनपी और फली-फूली है और इसकी मुख्य प्रेरणा राष्ट्रीय और सांस्कृतिक है। यह दूसरी स्थापना सत्य के अधिक समीप है। किन्तु यही बात इतिवृत्तात्मक पद्धति के उन काव्यों के बारे में भी सत्य है, जिनका विवेचन हम अभी कर आये हैं। इसलिए इस बात को स्पष्ट समझ लेने की ज़रूरत है कि यदि हमारा देश पराधीन न होता और हमारे यहाँ राष्ट्रीय आन्दोलन की आवश्यकता न रही होती,

तो भी आधुनिक औद्योगिक समाज (पूँजीवाद) का विकास होते ही काव्य में स्वच्छन्दतावादी भावना और व्यक्तिवाद की प्रवृत्ति मुखर हो उठती। इसलिए छायावादी कविता राष्ट्रीय आन्दोलन या जाग्रति का सीधा परिणाम नहीं है, बल्कि पाश्चात्य अर्थ-व्यवस्था और संस्कृति से सम्पर्क में आने के परिणाम-स्वरूप हमारे देश और समाज के बाहरी और भीतरी जीवन में जो प्रत्यक्ष और परोक्ष परिवर्तन हो रहे थे, उन्होंने जिस तरह सामूहिक व्यवहार और कर्म के क्षेत्र में राष्ट्रीय एकता की भावना जगाई और राष्ट्रीय संघर्ष को प्रेरणा दी, उसी तरह सांस्कृतिक क्षेत्र में उसने स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्ति को प्रेरणा दी। जिस तरह राष्ट्रीय जाग्रति और राष्ट्रीय आन्दोलन हमारे बाह्य कर्म-जीवन को समग्र-रूप से संचालित करने लगा, उसी तरह स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति हमारे अन्तरस्थ भावों और आकांक्षाओं को संचालित करने लगी। इस प्रकार राष्ट्रीय जाग्रति और स्वच्छन्दता वादी प्रवृत्ति दोनों ही ने आधुनिक युग की सामान्य परिस्थितियों से जन्म लिया। राष्ट्रीय जागरण और आन्दोलन की प्रेरणाएँ सामयिक और बाह्यस्तर की होने के कारण अधिक बलवान् होती हैं। उन पर समूचे देश का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास निर्भर करता है। इसलिए अधिक व्यापक और तलस्पर्शी होते हुए भी सांस्कृतिक भावना का रूप-विन्यास राष्ट्रीय जाग्रति से प्रभावित होता है। इस दृष्टि से ही हम कह सकते हैं कि देश की प्राचीन संस्कृति और पाश्चात्य काव्य-साहित्य के प्रभावों को ग्रहण करती हुई छायावादी कविता राष्ट्रीय जागरण के क्रोड़ में पनपी और फली-फूली।

व्यक्तिवाद अपने आप में बुरी चीज़ नहीं है, न यह असामाजिक भावना ही है, किन्तु पाश्चात्य देशों के ह्रासोन्मुखी पूँजीवाद के युग में व्यक्तिवाद की परिणति बहुधा ऐसी अहंवादी, स्वार्थ-प्रेरित, आत्म-केन्द्रित, असामाजिक और असंतुलित मनोवृत्तियों के रूप में हुई है, कि किसी को 'व्यक्तिवादी' कहना दुर्वचन-सा बन गया है। वस्तुतः विकासोन्मुखी पूँजीवाद के युग में 'व्यक्तिवाद' मानव-चेतना के एक

अभिनव विकास की सूचना देता है। मध्यकालीन सामंती समाज में व्यक्ति के मनोभावों और व्यक्ति के अधिकारों का प्रश्न ही नहीं उठता था। कर्तव्यों की एक अटूट शृंखला में व्यक्ति का अन्तर्बाह्य जीवन बँधा हुआ था। लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था में समाज-सम्बन्ध इस इकतरफ़ा भित्ति पर नहीं खड़े रह सकते थे। व्यक्ति समाज की इकाई है। इन इकाइयों से मिलकर ही समाज बनता है, इसलिए समाज के प्रति व्यक्ति का कर्तव्य है तो व्यक्ति के प्रति भी समाज का कर्तव्य है, अन्यथा समानता का कोई अर्थ ही नहीं रहता। व्यक्तिवाद इस प्रकार एक सामाजिक आवश्यकता की चेतना का रूप लेकर ही पैदा हुआ। आगे चलकर पूँजीवादी समाज ने नये अप्रत्यक्ष पूँजी-सम्बन्ध स्थापित करके व्यक्ति के आध्यात्मिक और भौतिक विकास के मार्ग वर्ग-सीमित कर दिये और युग की स्वच्छन्दतावादी भावना प्रतिक्रिया-स्वरूप पूँजीवाद से द्रोह न करके सारे समाज और सामाजिकता से ही द्रोह कर बैठी। यह पूँजीवादी व्यवस्था की आन्तरिक असंगतियों और ह्रास की कहानी है। किन्तु इससे व्यक्तित्व या व्यक्ति की सत्ता की स्वीकृति का प्रश्न अपनी संगति नहीं खो बैठता।

हमारे देश में जिस समय व्यक्ति-भावना का जन्म हुआ उस समय राष्ट्रीय-चेतना का भी उदय हुआ। इसलिए व्यक्ति-भावना का प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय आज़ादी की भावना से गठबन्धन हो गया, और नई छायावादी कविता का व्यक्तिवाद असामाजिक पथों पर न भटक कर राष्ट्रीय नवजीवन की उदात्त आकांक्षा का गम्भीर मर्म-वेदन लेकर मुखरित हुआ। रवीन्द्रनाथ ठाकुर हिन्दी से पहले ही बँगला-काव्य में स्वच्छन्दतावाद की धारा प्रवाहित कर चुके थे, जिसने एक नई काव्य-भूमि के विस्तृत सीमान्त खोल दिये थे। उनका व्यक्तिवाद स्वयं अपने पार्थिव जीवन के सुख-दुख से ऊपर उठकर जाति, वर्ण, देश और समाज की सीमाओं को पार करता हुआ विश्व-बन्धुत्व और मानवी-सीमाओं में असीम भौतिक और आध्यात्मिक विकास की सम्भावनाओं का दर्शन कर रहा था। उनकी गोचर में अगोचर की खोज और

पार्थिव में दिव्य का अवतरण और प्राण-प्रतिष्ठा करने की साधना मानव-जीवन की अनन्त सम्भावनाओं का सत्यान्वेषण करने का ही नैतिक प्रयास था। इन उदात्त भावनाओं और दार्शनिक चिन्तन ने व्यक्तिगत अनुभूति का रूप धारण करके प्रगीतात्मक अभिव्यक्ति पायी, क्योंकि कवि का संवेदनशील व्यक्ति-हृदय उस समय 'मानवता का स्वच्छ मुकुर' बन गया था, जिसमें हमारे देश की ही नहीं, मानव-मात्र की आशाओं-आकांक्षाओं, सुख-दुख और राग-विराग का सम्पूर्ण वेदन प्रतिबिम्बित हो रहा था। कवि बाह्य-जीवन में से प्रतिनिधि चरित्रों का निर्माण किये बिना ही प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्भावों को छू सकता था, उन्हें अपनी संवेदना और अनुभूति का अंग बनाकर मार्मिक चित्रों की भाषा में अभिव्यक्ति दे सकता था। व्यक्ति-हृदय या व्यक्ति-चेतना समाज-हृदय और समाज-चेतना से भी एकात्म थी। इसलिए प्रारम्भिक छायावादी कविता का रुदन-क्रन्दन, व्यक्तिगत रुदन-क्रन्दन, के साथ-साथ रूढ़ि-बद्ध, पराधीन और संघर्षशील भारतीय समाज का ही रुदन-क्रन्दन था। कवि का 'मैं' प्रत्येक प्रबुद्ध भारतवासी का 'मैं' था, इस कारण कवि की विषयिगत दृष्टि ने अपनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए जो लाक्षणिक भाषा और अप्रस्तुत योजना-शैली अपनायी, उसके संकेत और प्रतीक हर व्यक्ति के लिए सहज प्रेषणीय बन सके। छायावादी कवियों की भावनाएँ यदि उनके विशिष्ट वैयक्तिक दुखों के रोने-धोने तक ही सीमित रहतीं, उनके भाव यदि केवल आत्म-केन्द्रित ही होते तो उनमें इतनी व्यापक प्रेषणीयता कदापि न आ पाती। 'निराला' ने लिखा :—

"मैंने" "मैं" शैली अपनाई
देखा एक दुखी निज भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय में
झट उमड़ वेदना आई।"

इससे स्पष्ट है कि व्यक्तिगत सुख-दुखों की अपेक्षा अपने से 'अन्य'

के सुख-दुखों की अनुभूति ने ही नये कवियों के भाव-प्रवण और कल्पनाशील हृदयों को स्वच्छन्दतावाद की ओर प्रवृत्त किया।

प्रारम्भ में हिन्दी के प्रमुख आलोचक छायावादी कविता के इस युगीन रूप को न पहचान सके, यद्यपि हिन्दी पाठकों में ये कविताएँ लोक-प्रिय होती जा रही थीं। बाबू मैथिलीशरण गुप्त, श्रीधर पाठक, मुकुटधर पाण्डेय और पंडित बदरीनाथ भट्ट ने छायावादी-युग से पहले कुछ गीतात्मक रचनाएँ की थीं और उनमें कहीं-कहीं रहस्य-भावना की पुट भी दी थी। लेकिन इन रचनाओं के भाव-संस्कार पुराने और धार्मिक ही थे। यहाँ तक तो उस युग के आलोचकों को सह्य था, लेकिन हिन्दी-काव्य परम्परा-विहित मार्ग को छोड़कर नितान्त नयी भाषा, पद्धति और अर्थ-भूमि की सृष्टि करने लगे, यह उनके शास्त्र-ज्ञान और पूर्वग्रहों को तीव्र चुनौती थी, जिसके लिए वे तैयार न थे। सन् १६१३ में रवीन्द्रनाथ ठाकुर को नोबल पुरस्कार प्राप्त हुआ था, तब से, कम से कम उन पर सीधे आक्रमण करने का साहस आलोचकों को नहीं रहा था, यद्यपि उनकी कविता को वे किसी पूर्व-परिचित, शास्त्रोक्त परिपाटी के अंदर रखकर समझ सकने में असमर्थ थे। हिन्दी-आलोचकों ने इस कारण रवीन्द्रनाथ और उनकी कविता के प्रति एक आक्रोशपूर्ण उदासीनता का भाव अपना रखा था। वे नहीं चाहते थे कि बँगला-काव्य को रवि बाबू जिन अनजाने पथों पर घसीटे लिए जा रहे थे उन पर हिन्दी के उदीयमान कवि भी भटक जायें। इसलिए जब निराला और पंत की कविताएँ पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगीं तो हिन्दी आलोचकों ने उनका जमकर विरोध किया। स्वयं आचार्य द्विवेदी ने इस विरोध की शुरूआत की और बाद में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी इस नई धारा के विरुद्ध पर्याप्त लिखा। केवल अपने अन्तिम दिनों में ही उन्होंने स्वीकार किया कि "छायावाद की शाखा के भीतर धीरे-धीरे काव्य-शैली का बहुत अच्छा विकास हुआ, इसमें सन्देह नहीं। इसमें भावावेश की आकुल व्यंजना, लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्त्त प्रत्यक्षीकरण, भाषा की वक्रता, विरोध-चमत्कार, कोमल

पद-विन्यास इत्यादि काव्य का स्वरूप संगठित करने वाली प्रचुर सामग्री दिखाई पड़ी।" छायावादी कविता के विरोध में रवीन्द्रनाथ और पाश्चात्य स्वच्छन्दतावादी कवियों के अनुकरण का आरोप तो लगाया ही जाता था, किन्तु द्विवेदी जी का मुख्य आरोप यह था कि इस कविता में प्रासादिकता नहीं है। वे प्रासादिकता या प्रेषणीयता को काव्य का प्रधान गुण मानते थे। आचार्य शुक्ल का विरोध इन बातों के अतिरिक्त, इस बात को लेकर भी था कि छायावादी कवि काव्य-वस्तु को संकीर्ण बनाकर केवल अप्रस्तुतों की योजना करने और लाक्षणिक मूर्त्तिमत्ता और विचित्रता लाने की ओर ही प्रवृत्त हैं और प्रेम-क्षेत्र के भीतर ही प्रकांड वेदना, औत्सुक्य, उन्माद आदि की व्यंजना करते हैं, जो रीति-कालीन शृंगारी कविता का ही, कुछ अदब-बदल कर, प्रत्यावर्तन है। प्रासादिकता या प्रेषणीयता के सम्बन्ध में हम कह चुके हैं कि छायावादी कविताएँ धीरे-धीरे लोक-प्रिय होती जा रही थीं क्योंकि युग-चेतना का प्रवाह उनके अनुकूल था। रही प्रेम-क्षेत्र के भीतर ही अधिकतर छायावादी-काव्य के सीमित रहने की बात, तो इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि आदि-काल से स्त्री और पुरुष का प्रेम-सम्बन्ध काव्य, कला और साहित्य की विषय-वस्तु बनता आया है, इसलिए नहीं कि महान् कवि और कलाकार विलासी और शृंगारी मनोवृत्ति के व्यक्ति थे, बल्कि इसलिए कि मानव-सम्बन्धों में प्रेम का सम्बन्ध न केवल सर्वोच्च है, बल्कि मनुष्य की उच्चतम नैतिक भावना, परदुख-कातरता, सौहार्द्र और सहृदयता की सबसे बड़ी कसौटी भी है। नर-नारी के प्रेम-सम्बन्धों को काव्य-कला में रूपायित करने का अर्थ है, मनुष्य की उच्चतम उदात्त भावनाओं, आशाओं-आकांक्षाओं और तत्कालीन सामाजिक जीवनको रूपायित करना। यह सामाजिक जीवन या तत्कालीन समाज-सम्बन्ध व्यक्ति और उसके माध्यम से मानव-समाज की प्रगति में सहायक या बाधक हैं, इसका मार्मिक प्रतिबिम्ब उस समाज के नर-नारी के प्रेम-सम्बन्धों और नैतिक धारणाओं, रूढ़ियों और सामाजिक आचरण में मिलता है। इसलिए अधिकतर प्रेम-गीत लिखने के कारण

ही छायावादी कवियों पर 'शृंगारी' होने या "नाना अर्थ-भूमियों पर काव्य का प्रसार" रोक देने का लांछन लगाना असंगत था। छायावादी कविता के तथा-कथित 'प्रेम-गीत', वस्तुतः सामन्त-कालीन, रूढ़ि-जर्जर व्यवस्था, नैतिकता और मानव-सम्बन्धों के विरुद्ध असंतोष और विद्रोह के गीत हैं और मानव-सम्बन्धों को अधिक व्यापक मानवीय आधार पर संगठित करने की युगीन आकांक्षा के प्रतिनिधि हैं।

हिन्दी-आलोचकों के इस विरोध का एक शुभ परिणाम भी निकला। वर्ड्सवर्थ और शेली की तरह छायावादी कवि भी स्वयं अपनी कविता के प्रवक्ता बने। अपने कविता-संग्रहों की भूमिकाओं में उन्होंने कविता के सम्बन्ध में जिन नये व्याख्या-सूत्रों की उद्भावना की, वे परम्परागत शास्त्रीय व्याख्याओं से भिन्न थे। यद्यपि इन व्याख्याओं का मूलभूत दार्शनिक आधार 'आदर्शवाद' था, भौतिकवाद नहीं, जिसके कारण उन्होंने सामान्यतः काव्य को मनुष्य के शेष कार्य-व्यापारों से भिन्न एक असाधारण, लोकोत्तर एवं आध्यात्मिक सर्जन-क्रिया के रूप में देखा, किन्तु फिर भी उन्होंने जीवन और यथार्थ से उसका अविच्छेद सम्बन्ध भी स्वीकार किया। किसी देश या जाति का मुक्ति-प्रयास, उसकी सत्य और सौन्दर्य-निष्ठा उसके काव्य में प्रतिबिम्बित होती है; अनुभूति और अभि-व्यंजना दो पृथक् क्रियाएँ नहीं हैं, बल्कि "व्यंजना वस्तुतः अनुभूतिमयी प्रतिभा का स्वयं परिणाम है;" मन के संकल्प और विकल्प इन दोनों रूपों में से यदि विज्ञान विकल्प (विश्लेषण, तर्क, प्रयोग-परीक्षा) द्वारा वस्तु-सत्य को जानने की चेष्टा करता है तो कविता मन की संकल्पा-त्मक अनुभूति द्वारा वस्तु-सत्य को जानने की चेष्टा करती है; जड़ से चेतन का, बाह्य-जगत से अन्तर्जगत का सम्बन्ध कराती है और इस प्रकार मनुष्य की समष्टिगत चेतना और सौन्दर्यानुभूति को जागरूक करके व्यापक और गहरा बनाती है; सत्य, शिव और सुन्दर केवल वैयक्तिक आदर्श नहीं हैं, बल्कि कविता के सामाजिक श्रेय और प्रेम का व्यापक जीवन-सत्य से ग्रन्थि-बन्धन कराके आदर्श और यथार्थ,

बुद्धि और भाव, व्यक्ति और समाज के समन्वित और समंजस विकास के आदर्श हैं—इन और इतर ऐसी ही अनेक मार्मिक तथा दार्शनिक स्थापनाओं द्वारा छायावादी कवियों ने एकनये काव्यादर्श, नये सौन्दर्य और जीवन-मूल्यों का प्रतिपादन किया और साहित्य के नये प्रतिमान स्थिर किये।

पुराने काव्यानुशासनों से मुक्ति दिलाने के लिए उन्होंने काव्य-भाषा, छन्द, अलंकार, वस्तु-विन्यास, मूर्त्ति-विधान और अभिव्यंजना-शैली में शतशः प्रयोग किये, तुकान्त, अतुकान्त, मुक्त-छन्द, विषम-चरण बन्ध आदि सभी का नियोजन किया और सीधी-सादी भाव-संवलित भाषा से लेकर लाक्षणिक और अप्रस्तुत-विधानों से युक्त चित्रमयी भाषा तक का प्रयोग भी किया। प्रगीत, खंड-काव्य और प्रबन्ध-काव्य भी लिखे और वीर-गीति, संबोध-गीति, शोक-गीति, व्यंग्य-गीति आदि काव्य के अन्य रूप-विधानों का भी प्रयोग किया। छायावादी कवियों का भाषा और छन्द-प्रयोग केवल बुद्धि-विलास, वचन-भंगिमा, कौशल या कौतुक-वृत्ति से प्रेरित नहीं रहा, बल्कि उनकी कविता में भाषा-भावों का अनुसरण करते दीखती है और अभिव्यंजना अनुभूति का। यह ठीक है कि छायावादी कविता विषयि-प्रधान (सब्जेक्टिव) है और बहिर्जगत् और जीवन की समस्याएँ कवि-विशेष की व्यक्तिगत अनुभूतियों के रंग में रंगी हुई प्रतिबिम्बित हुई हैं, किन्तु इसका यह परिणाम भी हुआ है कि छायावादी कविता में काव्य-बाह्य वस्तु, इतिवृत्तात्मक चित्र, प्रकृत, यथातथ्य दृश्य और वर्णन घुसकर विक्षेप नहीं उपस्थित करते, और प्रत्येक कविता एक सुशृंखलित और अखंडित भाव-इकाई की रूप-सृष्टि करती है। इसका यह तात्पर्य नहीं कि छायावादी कविता एक ही प्रकार की भाव-संवेदना या दृष्टिकोण की कविता है। समग्र रूप से छायावादी कविता में विविध भाव-संवेदनाओं और दृष्टिकोणों की अभिव्यंजना हुई है। एक ही कवि की भिन्न-भिन्न कविताओं में उल्लास, उत्साह, निराशा और अवसाद से पूर्ण वैयक्तिक अनुभूतियों

की विवृत्ति देखने को मिलती है। प्राचीन वेदान्त-दर्शन, बौद्ध-दर्शन, स्वामी विवेकानन्द, रामकृष्ण परमहंस, महात्मा गान्धी, मार्क्स और अरविन्द के दार्शनिक विचारों और सिद्धान्तों का उनके आत्म-चिन्तन पर प्रभाव पड़ा है। बहिर्जगत् और जीवन की समस्याओं की कवियों के मानस में जब जैसी प्रतिक्रिया हुई है, अपनी व्यक्तिगत अनुभूतियों के माध्यम से ही उन्होंने बाह्यजगत् और जीवन के व्यापारों को प्रतिबिम्बित किया है। इसलिए यद्यपि उनकी वाणी में मनुष्य की महिमा का उद्घोष है, रूढ़ि-ग्रस्त समाज के बन्धनों और मनुष्य के शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध एक नैतिक और न्यायपरक भावना का मार्मिक प्रतिवाद है और समाज के अधिकार-वंचित प्राणियों के प्रति सहज करुणा और सहानुभूति की उदात्त भावना है, तो भी कहीं-कहीं घोर नैराश्य-भरा और आत्म-पीड़क चीत्कार भी है, जो अपने निबिड़-आवेग में उनके आधारभूत मानववाद को समाजद्रोही भावनाओं से तिमिराच्छन्न कर लेता है। किन्तु ऐसी ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ सन्, ३५ के बाद ही अधिक मुखर हुइ और कुछ विशेष कवियों में ही, नहीं तो प्रसाद, निराला, पंत जैसे अग्रणी कवियों की सहज-प्रवृत्ति सामान्यतः अपने व्यक्तिगत सुख-दुखों को वाणी न देकर उनसे ऊपर उठने की ओर ही रही है।

हमने प्रथम महायुद्ध की समाप्ति से दूसरे महायुद्ध के आरम्भ काल तक छायावाद-युग की व्याप्ति मानी है, किन्तु इस तरह के निश्चित काल-निर्णय केवल सुविधा की दृष्टि से ही संगत समझने चाहिए। साहित्य की किसी प्रवृत्ति का आदि और अन्त किसी निश्चित तारीख़ से बाँध देना अत्यन्त कठिन काम है। इसलिए यह न समझ लेना चाहिए कि युद्ध की समाप्ति पर सन्, १८ में सहसा छायावादी काव्य-धारा फूट पड़ी और दूसरा महायुद्ध शुरू होते ही सन् १६३६ में हठात् विलीन हो गई। छायावादी कविताएँ सन् १६१८ से पहले ही शुरू हो गई थीं और सन् १६३६ के बाद भी होती रहीं। सच तो यह है कि अब भी रची जा रही हैं। इसलिए इस निश्चित काल-अवधि का तात्पर्य केवल इतना है उस

बीच छायावाद ही हिन्दी-कविता की मुख्य-धारा थी, तटवर्ती या पार्श्ववर्ती धारा नहीं, बल्कि मध्य की मुख्य-धारा। छायावाद के आरंभिक उत्थान में तीन युगावतारी प्रतिभा के कवि सामने आये—प्रसाद, निराला और पंत।

जयशंकर प्रसाद[१] (सन् १८८९-१९३७ ई०) को हिन्दी में छायावादी कविता का प्रवर्त्तक कहा जाता है। सन् १९१३ से पहले 'प्रसाद' जी ब्रजभाषा में ही कविताएँ लिखा करते थे और उनकी ब्रज-कविताओं का संग्रह 'चित्राधार' के नाम से प्रकाशित हुआ था। फिर खड़ी-बोली में 'कानन-कुसुम', 'महाराणा का महत्व', 'करुणालय' (गीति-नाट्य) और 'प्रेम-पथिक' प्रकाशित हुए। इन कविताओं में गीति-काव्य और बँगला कविताओं के ढंग की अतुकान्त पदावली की ओर उनकी प्रवृत्ति का आभास तो मिलता है, लेकिन इनमें अभी छायावाद का रूप नहीं झलका था, न विशेष नवीनता ही थी। भारतेन्दुकालीन पंडित अम्बिकादत्त व्यास और बाद में श्रीधर पाठक इस ढर्रे की अतुकान्त रचनाएँ पहले ही कर चुके थे। साथ ही, बाबू मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट और मुकुटधर पाण्डे की इस काल की गीतात्मक रचनाएँ अपेक्षया अधिक नई पद्धति की थीं। उनमें चित्रमयी भाषा का प्रयोग भी था और भावना भी स्वच्छन्दतावाद के अधिक निकट थी। प्रसाद जी ने भी पीछे नयी पद्धति अपनायी, और सन् १९१८ में उनकी २४ कविताओं का संग्रह 'झरना' के नाम से प्रकाशित हुआ। 'झरना' की कविताओं को छायावाद की दिशा में उनका पहला प्रयास ही समझना चाहिए। उनमें न प्रौढ़ता थी, न कोई विशिष्ट नया स्वर ही, जो उस समय की प्रचलित कविताओं से उन्हें अन्यतम बना देता। इसीलिए,

---

१. जयशंकर प्रसाद की रचनाएँ—कानन-कुसुम, महाराणा का महत्व, करुणालय, प्रेम-पथिक, झरना, आँसू, लहर, और कामायनी (महाकाव्य)

संभवत सन् १६२७ में 'झरना' का दूसरा संस्करण निकला जिसमें ३१ नई कविताएँ जोड़ी गईं, जिनमें छायावादी काव्य-वस्तु और शैली की विशिष्टताएँ थीं। स्मरण रहे कि इसके पूर्व ही पंतजी की 'वीणा', 'ग्रन्थि' और 'पल्लव' प्रकाशित हो चुके थे और निरालाजी की स्फुट कविताएँ भी पत्र-पत्रिकाओं में छपने लगी थीं, और छायावादी कविता अपने पूर्ण उन्मेष को प्राप्त करके हिन्दी-जगत् में एक युगान्तर उपस्थित कर चुकी थी। प्रसाद जी की पहली प्रौढ़ रचना 'आँसू' है जो सन् १६३१ में प्रकाशित हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि एक महान् छायावादी कवि के रूप में प्रसाद जी का विकास पंत और निराला की अपेक्षा धीरे-धीरे, लगभग १५ वर्ष की साधना लेकर हुआ। छायावादी कविता के प्रारंभिक इतिहास में जिस तरह पंत का 'पल्लव' और निराला के 'परिमल' का विशिष्ट स्थान है, उसी तरह उसके विकास और अन्ततः ह्रास के इतिहास में 'आँसू' का भी विशिष्ट स्थान है। आँसू की रचना उन दिनों हुई थी, जब देश में राष्ट्रीय आन्दोलन का ज़ोर था, किन्तु पूँजीवादी संसार एक भयंकर आर्थिक-संकट में फँसा हुआ था और उस संकट से बाहर निकलने का शस्त्रीकरण और युद्ध का मार्ग अपनाये बग़ैर, उसे और कोई मार्ग न सूझता था। इस आर्थिक-संकट ने भारतीय जनता और भारतीय उद्योग-धन्धों को भी अपनी लपेट में लेकर एक निराशा, अनिश्चितता और क्षोभ का वातावरण पैदा कर दिया था। सन् ३०-३२ का राष्ट्रीय-आन्दोलन इस क्षोभ का परिणाम था, किन्तु प्रसाद के 'आँसू' ने निराशा और अनिश्चितता को अत्यन्त मार्मिकता के साथ प्रतिबिम्बित किया। निराशावाद और नियतिवाद का गहरा अवसाद इसमें व्यक्त हुआ जिसने महादेवी जी के चिरन्तन पीड़ावाद, बच्चन के हालावाद और अंचल के भोगवाद की आत्म-केन्द्रित और अहंवादी प्रवृत्तियों को प्रेरित किया। 'आँसू' में प्रसाद जी ने 'प्रेम-वेदना' को दिव्यता से मण्डित कर दिया है, जिसकी गोद में सुख-दुख दोनों पलते हैं। सामाजिक-चेतना और सामाजिक उद्योग का

तिरस्कार इस कविता में दीखता है, क्योंकि विस्मृति या चेतना-शून्यता की महारात्रि में ही वास्तविक मिलन-सुख और 'कल्याण-वर्षा' की संभावना कल्पित की गयी है।

चेतना-लहर न उठेगी जीवन-समुद्र थिर होगा
संध्या हो सर्ग प्रलय की विच्छेद मिलन फिर होगा।

अपने अगले कविता-संग्रह 'लहर' में प्रसाद जी ने विविध अर्थ-भूमियों पर अपनी कल्पना को दौड़ाया। इसकी कविताओं में कहीं आनन्दवाद की झलक मिलती है, तो कहीं अज्ञात प्रियतम से रहस्यमय अभिसार के चित्र हैं, कहीं सजीले स्वप्नों से अतृप्ति को मिटाने का प्रयास है तो कहीं ब्रह्मवेला का 'बीती विभावरी, जाग री' का आह्वान है, और कहीं 'अब जागो जीवन के प्रभात' की कामना है। किन्तु समग्र रूप से अधीरता, वेदना और निराशा का स्वर इन कविताओं में भी प्रधान है।

लहर के बाद सन् १९३५ में 'कामायनी' प्रकाशित हुई। यह छाया-वाद-युग का महाकाव्य है, क्योंकि इसमें एक उदात्त आदर्शवादी स्तर पर व्यक्तिवाद की अन्तिम परिणति देखने को मिलती है। 'कामायनी' की कथा एक पौराणिक-वृत्त पर आधारित है, किन्तु यह वृत्त तो एक रूपक है जिसके माध्यम से प्रसाद जी ने मनुष्य के बौद्धिक और भावना-त्मक विकास और आधुनिक जीवन के आन्तरिक वैषम्य की वास्तविकता को ही चित्रमयी भाषा में प्रतिविम्बित करने का विराट् आयोजन किया है। काव्य के मुख्य पात्र मनु, इड़ा और श्रद्धा पौराणिक से अधिक प्रतीकात्मक व्यक्ति हैं। मनु आज के आत्म-चेतन व्यक्तिवादी व्यक्ति के प्रतीक हैं। इड़ा आधुनिक पूंजीवादी समाज के वर्ग-भेद और शोषण की मान्यताओं पर आधारित बुद्धि-तत्व की प्रतीक है और श्रद्धा मनुष्य की सहज मानवीय भावनाओं, नैतिक-मूल्यों और सौहार्द्रता से युक्त मानव-हृदय के आस्थाशील श्रद्धा-तत्व की प्रतीक है। इन तीन पात्रों के माध्यम से प्रसाद जी ने आधुनिक पूंजीवाद-प्रणीत सभ्यता और उसके समस्त अन्तर्विरोधों और असंगतियों का ऊहापोह विवेचन किया है। प्रसाद

जी ने जिस समय 'कामायनी' की रचना की उस समय गांधी जी के नेतृत्व में चलने वाले राष्ट्रीय-आन्दोलन ने देश के हर वग में स्वतंत्रता और भावी राष्ट्र-निर्माण के स्वप्न जगा दिए थे, लेकिन प्रसाद जी ने इस आदर्शवाद और उमंग की लहर से अप्रभावित रहकर उस समाज की आधार-भूत मान्यताओं को जाँचने-परखने का साहसपूर्ण प्रयास किया जिसका निर्माण करने के लिए ये सपने जगे थे। भारतीय विचार-धारा में बुद्धि और हृदय-पक्ष के परस्पर विरोध और द्वैत की धारणा प्राचीन और रूढ़ थी। बुद्धि यदि ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता-निर्माण में योग देती है, तो मनुष्य में वर्ग-भेद, मानव-शोषण, निरंकुशता, सत्ता-मद और अहंकार भी पैदा करती है, और इस प्रकार मनुष्य को मानवीयता से दूर खींच ले जाती है। बुद्धि-प्रणीत सभ्यता योग्यतम की विजय की क्रूर स्वार्थ-परता के अमानवीय सिद्धान्त पर टिकी है। इसी लिए इस द्वैत की धारणा में श्रद्धा या मनुष्य की हार्दिकता, सहानुभूतिशीलता के प्रति भारतीय मानस और तत्व-चिन्तन का विशेष आग्रह और अनुराग रहा है। साधारणतया मनुष्य तत्सामयिक स्थिति को ही चिरन्तन समझ लेता है, कम से कम उस समय जब कि उस स्थिति में मौलिक परिवर्तन की संभावनाओं का ज्ञान उसे नहीं हो जाता। इसलिए प्रसाद जी को इड़ा-निर्मित आधुनिक पूंजीवादी सभ्यता नये विकास की संभावनाओं के अभाव में चिरन्तन ही दिखाई दी और उनका संवेदनशील हृदय उससे विद्रोह कर बैठा। इस विद्रोह का सहज-प्राप्य अस्त्र बनी श्रद्धा। बुद्धि का तिरस्कार और श्रद्धा का ग्रहण ही उन्हें आधुनिक वर्ग-समाज के अभिशापों से मुक्ति का एकमात्र मार्ग समझ में आया। यह प्रत्यावर्तन और पलायन का मार्ग भी है और पूंजीवादी समाज में व्यक्तिवाद की अ-सामाजिक परिणति का भी। मनु ने श्रद्धा का त्याग करके इड़ा की सहायता से जिस सभ्यता का निर्माण किया वह अपनी समस्त श्री-सम्पन्नता के बावजूद ह्रास-ग्रस्त हो गई, क्योंकि उसमें वर्ग-भेद, आतंक-दमन, सत्तावाद, शोषण-दारिद्रय, कृत्रिमता और अहंवाद का बोलबाला हो

गया। इस सभ्यता का ध्वंस होने पर मनु का हृदय पुनः श्रद्धा की ओर प्रवृत हुआ। श्रद्धा उन्हें इस धरती के जन-रव, वैषम्य, वर्ग-भेद और अहमन्यता के दूषित वातावरण से दूर कैलाश पर्वत के समरस और सामंजस्यपूर्ण आनन्द-लोक में ले जाती है। इस प्रकार अन्ततः बुद्धि का तिरस्कार और श्रद्धा का स्वीकार प्रसाद जी की, वैचारिक स्तर पर, उस द्वैत-धारणा का ही परिणाम है, जिसका हमने उल्लेख किया है। व्यक्ति-वाद की इस समाज-द्रोही परिणति के बावजूद, 'कामायनी' का विराट् रूपक वर्तमान पूंजीवादी समाज की वास्तविकता और अन्तर्विरोधों को इतनी सजीव मूर्त्तता और गहराई से प्रतिबिम्बित करता है कि वह इस युग का प्रतिनिधि महाकाव्य बन गया। पूंजीवाद की शापग्रस्त सभ्यता से मुक्ति पाने का वे कोई सामाजिक आदर्श उपस्थित नहीं कर पाये, लेकिन यह सभ्यता शाप-ग्रस्त है और इसका ह्रास अनिवार्य है, एक अन्तर्द्रष्टा की तरह, इसका मार्मिक चित्रांकन करने में वे सफल हुए।

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'[१] (सन् १८९६–) छायावाद-युग के सबसे अधिक सशक्त और प्रौढ़ प्रतिभा के कवि हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल 'निराला' जी के प्रशंसक नहीं थे, और उनके समय तक हिन्दी-आलोचकों की ओर से 'निराला' का विरोध भी बदस्तूर चल ही रहा था, किन्तु फिर भी शुक्ल जी ने यह दिखाते हुए कि "संगीत को काव्य के और काव्य को संगीत के अधिक निकट लाने का सब से अधिक प्रयास निराला जी ने किया है," उन्होंने यह भी स्वीकार किया कि "बहु-वस्तु-स्पर्शिनी प्रतिभा निराला जी में है।" स्मरण रहे कि 'छायावाद' के प्रति शुक्ल जी का यही आक्षेप था कि इस प्रवृत्ति के कारण "नाना अर्थभूमियों पर काव्य का प्रसार रुक-सा गया" है। अतः निराला के संबंध में अपनी ही मान्यता का खंडन करके शुक्ल जी ने एक वस्तून्मुखी

---

१. 'निराला' जी के कविता-संग्रह—परिमल, गीतिका, अनामिका, तुलसीदास, अणिमा, कुकुरमुत्ता, बेला, नये पत्ते और अर्चना।

आलोचक-दृष्टि का परिचय दिया। किन्तु इससे निराला जी की काव्य-प्रतिभा की महानता ही अधिक प्रमाणित होती है। 'निराला' इस बीच हिन्दी के उपेक्षित कवि नहीं रहे, सब ने एक स्वर से उन्हें महाकवि मान लिया है। लेकिन सन् ३५-३६ तक जिस तरह बिना समझे-बूझे निराला जी पर चतुर्दिक से प्रहार किये जाते थे, उसी तरह बिना समझे-बूझे अब उन्हें 'महाप्राण', 'महामानव' और 'महाकवि' घोषित करके अंध-भक्ति और अंध-स्तुति से जैसे उस पूर्व-अपराध का प्रायश्चित किया जाता है। हिन्दी के आलोचक 'निराला' की कविता का ठीक-ठीक मूल्यांकन न तब करते थे, न अब करते हैं। जीवन में इतने विकट (और हिन्दी के लिए लज्जास्पद) संघर्ष के बाद 'निराला' जी को स्वीकृति, यश और मान चाहे अब मिल रहा हो, लेकिन दुर्भाग्य से उनके समूचे काव्य का पूर्वग्रह रहित, निष्पक्ष और वस्तुपरक मूल्यांकन होना अभी बाक़ी है। डा० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक 'निराला' में, तथा पंडित नन्द-दुलारे बाजपेयी और दो-एक आलोचकों ने अपने निबंधों में निराला जी की कविता को समझने-समझाने का प्रयत्न किया है, लेकिन इतना ही पर्याप्त नहीं है। सबसे पहले उनकी कविता का मूल्यांकन महाकवि पंत ने अपनी कविता 'अनामिका के कवि श्री सूर्यकान्त त्रिपाठी के प्रति' में किया था, जो मेरी दृष्टि में आज भी अन्य सभी विवेचनों से अधिक वस्तुपरक और गंभीर है और 'निराला' जी की कविता के वास्तविक सौन्दर्य, अर्थ-गौरव और महिमा का सही उद्घाटन करता है।

"छंद बंध ध्रुव तोड़, फोड़कर पर्वत कारा
अचल रूढ़ियों की, कवि, तेरी कविता धारा
मुक्त, अबाध, अमंद, रजत निर्झर सी निःसृत,—
गलित ललित आलोक राशि, चिर अकलुष अविजित!
स्फटिक शिलाओं से तूने वाणी का मंदिर
शिल्पि, बनाया,—ज्योति-कलश निज यश का घर चिर।

शिलीभूत सौन्दर्य, ज्ञान, आनन्द अनश्वर
शब्द-शब्द में तेरे उज्ज्वल जड़ित हिम शिखर।
शुभ्र कल्पना की उड़ान, भव भास्वर कलरव,
हंस, अंश वाणी के, तेरी प्रतिभा नित नव,
जीवन के कर्दम से अमलिन मानस सरसिज
शोभित तेरा, वरद शारदा का आसन निज।
अमृत पुत्र कवि, यशः काय तव जरा मरणजित,
स्वयं भारती से तेरी हृत्तंत्री झंकृत।"

(पंत : युगवाणी)

पंत जी की कविता में निराला जी की कविता के उन सभी विशिष्ट तत्वों की ओर संकेत मिल जाता है, जिनका सम्यक् उद्घाटन उनकी 'बहु-वस्तुस्पर्शिनी' कविताओं की अपेक्षा में रखकर विषद्-रूप में होना अभी शेष है। इस संक्षिप्त विवरण में यह कार्य संभव नहीं है। यहाँ केवल निराला की कविता के विकास की रूप-रेखा ही अंकित की जा सकती है।

'जूही की कली' निराला जी की प्रारंभिक कविताओं में से है। सन् १६१६ में (जब निराला जी केवल २० वर्ष के थे) इस कविता की रचना हुई, किन्तु यह प्रथम बार प्रकाशित हुई सन् १६२३ में 'मतवाला' के अठारहवें अंक में। मतवाला-काल की उनकी कुछ कविताएँ कलकत्ते से प्रकाशित होने वाले संग्रह 'अनामिका' में आगई थीं, लेकिन ठीक से उनकी रचनाओं का प्रकाशन सन् १६२६ से ही शुरू हुआ, जब उनका **'परिमल'** प्रकाश में आया। पंत के 'पल्लव' की तरह 'परिमल' की कविताएँ भी छायावाद के उत्कर्ष-काल की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं।

अचल रूढ़ियों की पर्वत-कारा फोड़कर मुक्त, अबाध निर्झर-सी बहने वाली निराला की कविता-धारा का महत्व क्षण-स्थायी ही होता यदि यह विद्रोह असंयत और उच्छृंखल होकर केवल विचित्र काव्य-प्रयोगों उक्ति-चमत्कारों और छिछले व्यंग और वचन-भंगिमा के आत्म-प्रदर्शन में लग

जाता, जैसा कि रूढ़ि तोड़ने का उपक्रम करने वाले वर्तमान प्रयोगवादी कवियों की बचकानी तुकबन्दियों से प्रमाणित है। प्रत्युत छायावादी कवियों के विद्रोह ने सामान्यतः, और निराला के विद्रोह ने विशेषतः, एक उच्चतर नैतिकता और काव्यादर्श की स्थापना में अपने को प्रकट किया। 'परिमल' की कविताओं में व्यक्त कवि का संयम, उसका उदात्त अन्तःस्वर, करुणा से सहज द्रवित हृदय की विशालता, अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध उसका मानवोचित दर्प एक शक्तिशाली व्यक्तित्व का सूचक है। भावों के सूक्ष्म-सौंदर्य, दार्शनिक गहराई, अर्थ की गम्भीरता, अभिव्यंजना की प्रौढ़ता और वस्तु की विविधता के नाते 'परिमल' की कविताएँ उस समय तक के छायावादी काव्य-साहित्य में बेजोड़ थीं। 'जूही की कली', 'पंचवटी' और 'जाग्रति में मुक्ति' आदि प्रेम और सौंदर्य के सरस कल्पना-चित्र अपनी सौन्दर्य-दृप्त आवेगमयी भाषा और सूक्ष्मवत्ता के लिए प्रसिद्ध हैं। 'परिमल' में निराला के छै बादल-गीत हैं, जिनमें बादल की अलग-अलग कल्पनाएँ हैं। 'विधवा' में 'इष्टदेव के मन्दिर की पूजा-सी', 'काल-ताण्डव की स्मृति-रेखा' और 'व्यथा की भूली हुई कथा'-सी भारतीय विधवा का करुण चित्र है। आगे 'भिक्षुक' का कारुणिक चित्र 'कलेजे के दो टूक' करने में समर्थ है। इनके अतिरिक्त और अनेक कविताएँ हैं जिनमें प्रतीक-व्यंजना द्वारा निराला ने अत्याचार पीड़ित, दलित जनों के प्रति अपने हृदय की करुणा उँडेली है। उनका प्रसिद्ध भक्ति-गीत 'भर देते हो' अपने आराध्य या प्रेमी की स्नेहमयी करुणा के प्रति एक सरल हृदय की निर्व्याज आस्था से परिपूर्ण है, और हृदय में एक सघन कृतज्ञता का भाव जगाता है। इनके अतिरिक्त परिमल की कुछ कविताएँ शुद्ध छायावाद की हैं, जिनमें अज्ञात से मिलने की कामना व्यक्त हुई है। कुछ पर स्वामी विवेकानन्द के रहस्यवाद का प्रभाव है। कुछ कविताओं में अतीत इतिहास की स्मृति दिलाने वाले चित्र हैं, तो कुछ में प्रलयंकर शिव के ताण्डव नृत्य का गायन कर शृंगार से विरक्ति और सामाजिक वैषम्य को मिटाने वाली ध्वंसलीला

के प्रति आग्रह प्रकट किया गया है। कुछ में हिन्दू पुनर्जागरण की भावना को उद्‌बुद्ध किया गया है और कुछ में पौराणिक जीवन के चित्र अंकित किए गये हैं। कुल मिलाकर 'परिमल' में छायावाद की अनेक-मुखी प्रवृत्तियों की उदात्त झलक मिलती है। राष्ट्रीय चेतना की सूक्ष्म-अनुभूतिमयी व्यंजना जितने गंभीर और प्रौढ़ स्वरों में 'परिमल' में हुई उतनी उस समय तक छायावाद के किसी अन्य कवि की वाणी में नहीं हो पायी। 'परिमल' की कविताओं से सचमुच 'समूची जाति के मुक्ति-प्रयास' का पता चलता है।

'परिमल' के बाद 'गीतिका' आई और 'गीतिका' के बाद 'अनामिका'। 'गीतिका' के छोटे-छोटे गीतों में भी 'परिमल' का-सा ही वैविध्य है, एक ही भाव की विविध स्थितियों में रख कर आवृत्ति नहीं है। भावों की ऐसी सुसम्बद्धता और कमनीयता, मानवीय भावनाओं की उदात्त अभिव्यक्ति अन्यत्र दुर्लभ है। किन्तु गीतिका के गीत उतने लोक-प्रिय न हो सके, इसलिए नहीं कि उनमें प्रेषणीयता का अभाव है, बल्कि इसलिए कि 'निराला' ने इन गीतों के रूप में एक-एक बूंद में सागर भरना चाहा है। भाव-सरणि सरल और एकसूत्रीय भी नहीं है, बल्कि उनमें अक्सर एक नाटकीय ढंग से विपरीत और विषम भावों की संश्लिष्ट समन्विति की गई है। उनका नाद-सौन्दर्य भी नवीन है जो शास्त्रीय या लोक-संगीत में पूरी तरह नहीं समाता। एक-एक गीत को बार-बार पढ़ने या गाने से ही उसके भाव और अर्थ के शतदल एक-एक कर खुलते हैं। किन्तु 'अनामिका' (सन् १६३७) के गीतों और कविताओं में निराला की प्रगल्भ कल्पना को पुनः मुक्त उड़ने का अवकाश मिला। 'अनामिका' उनका प्रतिनिधि काव्य-ग्रन्थ है, जिसमें उनकी कविता का प्रौढ़तम विकास दिखाई देता है।

छायावादी कवियों ने स्त्री और पुरुष के प्रेम की जो कल्पना की है वह रीतिकालीन शृंगारी कवियों की काम-क्रीड़ा की वस्तु और इधर के भोगवादियों और प्रयोगवादियों की जैवी स्तर पर उतर कर स्त्री को

मात्र शारीरिक वासना-पूर्त्ति का साधन समझने वाली असामाजिक कल्पनाओं से भिन्न है। साथ ही भक्त और अध्यात्मवादी कवियों की तरह छायावादी कवियों ने नारी को न 'सहज अपावन' माना और न प्रगतिवादियों की तरह क्रान्ति-पथ में बाधक समझ कर उसे सन्देह की दृष्टि से ही देखा। छायावादियों ने (निराला, पंत, प्रसाद, महादेवी आदि ने) नारी-पुरुष प्रेम को इन सभी रूढ़ियों या एकांगी दृष्टियों से मुक्त करके एक सहज मानवीय आधार पर स्थापित करना चाहा, जिस में एक-दूसरे का आकर्षण, एक-दूसरे के प्रति उत्सर्ग और समर्पित होने की सच्ची हार्दिक भावना ही उनके मुक्त-प्रेम की कसौटी हो, न कि रूढ़ि-बन्धन, समाज के अर्थ-सम्बन्ध या मात्र शारीरिक वासना। प्रेम की इस उदात्त और संस्कृत कल्पना को, जिस में नारी के व्यक्तित्व के पूरे गौरव को समान भाव से स्वीकार किया गया था, कुछ लोगों ने वायवी प्रेम या अशरीरी वासना का नाम दिया, तो किसी ने इसे कल्पित और क्षयी रोमान्स कहा। इसके नव-संस्कृति विधायक रूप को कम लोगों ने ही पहचाना, यद्यपि इस युग के नये समाज-सम्बन्धों में छायावादी कविता द्वारा निर्मित नये और उच्चतर मानव-मूल्यों की स्वीकृति स्वयं विकास-तर्क से होने लगी थी। बाद में प्रगतिवादियों ने या प्रयोगवादियों ने नारी-समस्या के प्रति जो एकांगी दृष्टिकोण अपनाये, वे आज की सुसंस्कृत आधुनिक नारी को मान्य नहीं हैं। न वह जीवन के संघर्ष में बाधक समझी जाना पसन्द करती है और न जैवी आधार पर, भावना-रहित शारीरिक वासना की पूर्त्ति का मात्र साधन ही समझी जाना चाहती है। वह जीवन के हर क्षेत्र में पुरुष की समकक्षिनी बनने की आकांक्षी है, किसी की वासना-तृप्ति का साधन न बनकर मुक्त-हृदय से अपने हृदय का प्रेम देना और पाना चाहती है। यह प्रेम ही नारी-पुरुष संबंध की उच्चतर नैतिक मर्यादा है, युगल-प्रेमियों के संयम और सामाजिक दायित्व और स्वामित्व की कसौटी है। दलित वर्ग के प्रति सहज करुणा के भाव की तरह ही नारी के प्रति छायावादी कवियों

का यह समानता का भाव भी प्रगतिशील और नई सांस्कृतिक चेतना का द्योतक है।

'निराला' जी की कविता में और विशेषकर 'अनामिका' में इस सांस्कृतिक चेतना का भव्य रूप देखने को मिलता है। 'अनामिका' की पहली कविता 'प्रेयसी' में ही यह प्रकट है। इसीलिए 'सम्राट् एडवर्ड अष्टम के प्रति' में उन्होंने प्रेम के लिए इतने बड़े साम्राज्य को त्याग देने वाले एडवर्ड अष्टम को बधाई दी है, क्योंकि "आलिंगित तुम से हुई सभ्यता यह नूतन !" और अनेक कविताओं में निराला जी ने नारीपुरुष प्रेम को उदात्त अभिव्यक्ति दी है। इनके अतिरिक्त 'अनामिका' में 'तोड़ती पत्थर', 'वे किसान की नई बहू की आँखें', 'बादल गरजो' 'तोड़ो-तोड़ो, तोड़ो कारा' आदि कविताएँ एक नई प्रगतिशील चेतना की सूचना देती हैं। 'सरोज-स्मृति' एक लम्बी 'शोक-गीति' (एलेजी) है, जो उन्होंने अपनी पुत्री सरोज की स्मृति में लिखी है। कुछ आलोचकों का मत है कि विश्व-साहित्य में इतनी गहन-वेदना और तीखे व्यंग से युक्त शोक-गीति की अभी तक रचना नहीं हुई। अपने व्यक्तिगत दुख से ऊपर उठने की चेष्टा 'सरोज-स्मृति' में हृदय को विदीर्ण करने वाला मार्मिक उद्गार बनकर फूट पड़ी है—'दुख ही जीवन की कथा रही, क्या कहूँ आज जो नहीं कही।' 'निराला' की काव्य-साधना वस्तुतः इस उदात्तीकरण की महत् चेष्टा की आदि से अन्त तक प्रमाण है। घोर निराशा और अवसाद की अनुभूतियाँ बरबस दबाने पर भी यद्यपि कहीं-कहीं फूट पड़ती हैं, जैसे, 'जीवन चिरकालिक क्रन्दन', या 'मैं अकेला : देखता हूँ, आ रही मेरे दिवस की सांध्य वेला' या 'स्नेह-निर्झर बह गया है, रेत ज्यों तन रह गया है।' या 'देख चुका जो-जो आये थे सब चले गये, मेरे प्रिय सब भले गये, सब बुरे गये,' आदि कविताओं में; लेकिन हताश अवस्था में भी उनकी परुष तेजस्विता अपना आत्म-गौरव नहीं खो देती, और इस प्रकार वे पाठक में जीवन-संघर्षों के प्रति स्वाभिमान का भाव ही जगाते हैं। 'अनामिका' और अगले संग्रहों के ऐसे गीतों को व्यक्तिवाद

का असामाजिक रूप नहीं कह सकते, क्योंकि पीड़ा बिना झेले ही, संघर्ष में बिना टूटे ही पीड़ा और संघर्ष से पलायन करने वाली प्रवृत्ति उनमें नहीं है, बल्कि एक ऐसे तेजःपुंज व्यक्ति की सहज अनुभूति का गंभीर, कचोटनेवाला वेदन है जो इतना कुछ झेल कर भी नतशिर नहीं है। 'अनामिका' में ही निराला जी की प्रबन्ध-कविता 'राम की शक्ति-पूजा' छपी है। इतने छोटे आकार-प्रकार का महाकाव्य निराला जी की प्रतिभा ही रच सकती थी। 'राम की शक्ति-पूजा' बीज रूप में एक महाकाव्य ही है, क्योंकि इतने संक्षेप में, और राम-कथा के एक प्रसंग को लेकर ही, उन्होंने मानव-हृदय की विविध स्थितियों और भावनाओं का संपूर्ण चित्रण-सा कर दिया है। 'अनामिका' के बाद 'तुलसीदास' में प्रबन्ध-काव्य रचने की इस असाधारण सामर्थ्य का और भी विकास हुआ है। 'तुलसीदास' की रचना के बाद निराला जी ने नया मोड़ लिया। 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा' 'बेला', 'नये पत्ते' और 'अर्चना' में निराला जी ने प्रगतिशील कविता के युग के नये वस्तून्मुखी प्रभाव ग्रहण किये, छायावादी काव्याभरण उतार कर अधिक सरल और मुहावरेदार भाषा का प्रयोग किया। "ज़मीदार की बनी, महाजन धनी हुए हैं; जग के मूर्त पिशाच-धूर्तगण गनी हुए हैं।" जैसी पंक्तियों में समाज के वर्ग-संघर्ष की खुली झाँकी है। इस बीच निराला जी का मानसिक स्वास्थ्य गिरता गया, संभवतः बाह्य अभावों की चेतना और आत्म-वेदना के गरल को स्वयं पीकर केवल अमृत-दान करने के आन्तरिक संघर्ष ने ही उन्हें अस्वस्थ बनाया है, क्योंकि निराला जी की प्रत्येक कविता से लगता है, जैसे भीतर अभिव्यक्ति पाने के लिए भावों और अनुभूतियों का पारावार उमड़ रहा है, जिसे बाँध तोड़ कर प्लावन करने से कवि को बरबस थामना पड़ रहा है। अपनी कल्पना को कुरेद-कुरेदकर निरर्थक, फालतू या अलंकारी शब्दों से उनकी कविता का भवन निर्मित नहीं हुआ, बल्कि लगता है जैसे किसी विपुल-राशि में से उन्हें अपनी आवश्यकतानुसार केवल एक स्वल्प-राशि को ही चुनने के लिए बाध्य होना

पड़ रहा है—संदम और चयन का यह प्रयास उनकी शैली से भी प्रकट है। इसीलिए उनकी कविताओं में ध्वनित अर्थ कोरे अभिधार्थ से कहीं अधिक गंभीर और मर्मभेदी हैं। उनकी आत्म-निष्ठ और समाज-निष्ठ, रहस्यात्मक और समाजोन्मुखी प्रवृत्तियाँ मानवताबोधिनी एक ही समंजस अनुभूति का प्रकाश हैं। 'अनामिका' के पश्चात् की कविताओं में उनका समाज-चिन्तन अधिक मुखर रहा है। यह उनकी कविता के उतार का काल है। उनमें पहले जैसा काव्य का उत्कर्ष नहीं रहा। निराला जी ने शास्त्रोक्त आधार पर कोई महाकाव्य नहीं रचा, किन्तु समग्र रूप से उनका काव्य इस युग की प्रवृत्तियों का एक महाकाव्य ही है, जिसमें राष्ट्रीय चेतना और हमारे सांस्कृतिक-जीवन और चिन्तन की भी धाराएँ अभिव्यक्ति पा गई हैं। उनके अलग-अलग गीत इस महाकाव्य के अलग-अलग सर्ग हैं।

श्री सुमित्रानन्दन पंत[1] (सन् १९०१—) छायावादी-युग के तीसरे महाकवि हैं। पंत जी महाकवि निराला की तरह संघर्ष-प्रिय, परुष-भावना के कवि नहीं हैं, बल्कि "मेरा मधुकर का-सा जीवन; कठिन कर्म है, कोमल है मन!" वाले प्रकृति और मनुष्य के सुन्दर रूप के कवि हैं। उनकी कविता में इस सौंदर्य-प्रियता और स्निग्ध कोमलता का ही रस प्रवाहित है। प्रकृति के उग्र रूप या मनुष्य-स्वभाव की क्षुद्रताओं या सामाजिक जीवन की कुरूपताओं की ओर उनका मन सहज आकर्षित नहीं होता, यद्यपि प्रकृति, मनुष्य और समाज के ऐसे चित्र भी उन्होंने अंकित किए हैं। प्रकृति को पंत जी ने अनेक रूपों में चित्रित किया है। प्रकृति के रूप-चित्रण के साथ-साथ, उन्होंने उसे अपनी भावनाओं के सौंदर्य में रंग कर ऐन्द्रिकता भी प्रदान की है। कभी प्रकृति को नारी-

---

१. पंत जी के काव्य-संग्रह—वीणा, ग्रन्थि, पल्लव, गुंजन, युगान्त, युगवाणी, ग्राम्या, स्वर्ण-किरण, स्वर्ण-धूलि, युग-पथ, उत्तरा, रजत-शिखर, उत्तर-शती (रूपक)।

रूप में देखा है और अपनी किशोरावस्था में प्रकृति से पूर्ण तादात्म्य का अनुभव कर स्वयं अपने को भी नारी-रूप में अंकित किया है। उनकी इस भावना को 'स्त्रैण' और 'अस्वाभाविक' कह कर कुछ आलोचकों ने पंत जी पर भद्दे आरोप भी किए, मानो पुरुष में नारी-सुलभ कोमल भावना कोई अपराध हो।

पंत जी का रचनाकाल सन् १९१८ ई० से शुरू होता है, जब वे केवल सोलह-सत्रह वर्ष के थे। उनकी प्रारंभिक रचनाएँ 'वीणा' में संग्रहीत हैं। पंत जी की अप्रस्तुत रूपों का मूर्त्त-विधान करने वाली लाक्षणिक शैली का निखार इन प्रारंभिक रचनाओं में भी स्पष्ट है। साथ ही, अभी विश्व-चिन्तन का आग्रह नहीं है, प्रकृति और मानव-जीवन के प्रति एक कैशोर जिज्ञासा और रहस्-भावना की ही प्रधानता है, यद्यपि स्वामी विवेकानन्द, राम-तीर्थ और रवीन्द्रनाथ के प्रभाव से 'विश्व-प्रेम का रुचिर राग' उनके सहज मानववादी हृदय को आकर्षित करने लगा था। "कौन-कौन तुम परिहित-वसना, म्लान मना, भू-पतिता-सी ? धूल धूसरित, मुक्त-कुंतला, किसके चरणों की दासी ?" और "प्रथम रश्मि का आना रंगिणि ! तूने कैसे पहचाना ? कहां, कहां, हे बाल-विहंगिन ! पाया तूने ये गाना ?" आदि जिज्ञासु-हृदय की कोमल-कल्पनाएँ 'वीणा'-काल की ही हैं। 'वीणा' की कविताओं में प्रकृति-प्रेम का उल्लास इतना प्रबल है कि कवि किसी बाल-जाल में अपने लोचन उलझा देने के लिए तैयार नहीं है। लेकिन 'ग्रन्थि' में पंत जी का यह किशोर उल्लास असफल प्रेम की सघन वेदना में परिणत हो गया। 'ग्रन्थि' एक खंड-काव्य है, यद्यपि उसमें कहानी का विशेष महत्व नहीं है। झील में नाव उलटने पर एक युवक डूब कर बेहोश हो जाता है, मूर्छा टूटने पर देखता है कि अपनी जांघ पर उसका सिर रखे एक युवती उसकी परिचर्या कर रही है। दोनों में प्रेम हो जाता है। समाज इस स्वेच्छाचार को रोकने के लिए उस युवती का किसी और से विवाह कर देता है। युवक का हृदय इस आघात से तिलमिला कर

विषाद से भर जाता है। नारी-पुरुष के सहज और पुनीत प्रेम को समाज कितनी निर्ममता से कुचल देता है, इस खंड-रूपक की यही कहानी है। 'ग्रन्थि' में कैशोर-सुलभ भावना का प्रवेग अवश्य है, लेकिन भाषा और भावों की अभिव्यक्ति में पर्याप्त प्रौढ़ता है, जो उनकी अगली रचना 'पल्लव' (सन् १९२७) में अपनी पूर्णता को पहुँची। 'पल्लव' की भूमिका का भी हिन्दी-काव्य के विकास में एक आत्यन्तिक स्थान है। इसमें पहली बार पंत जी ने नये काव्यादर्श के प्रतिमान स्थिर किये और काव्य-रूढ़ियों और प्राचीन मान्यताओं पर आक्रमण किया। 'पल्लव' की कविताओं में दृश्य-जगत् के नाना सुन्दर रूपों का मूर्त्त और मांसल चित्रण है और विवध भावों की अभिव्यंजना है। 'पल्लव' में पंतजी की वीणा-कालीन प्राकृतिक अनुराग की भावना सौंदर्य-प्रधान हो गई है—'वीचि' 'विलास' 'बादल' 'नक्षत्र' 'मौन-निमंत्रण' 'आँसू' 'विश्व-वेणु' 'उच्छ्वास' आदि इस सौंदर्यमयी कल्पना की श्रेष्ठ कविताएँ हैं। उनकी प्रसिद्ध कविता 'परिवर्तन' भी 'पल्लव' में ही संग्रहीत है। 'परिवर्तन' में पंत जी की एक नई उपलब्धि के दर्शन हुए। लगता है जैसे उनका सौन्दर्य-स्वप्न टूट गया है और जगत् और जीवन के चिर परिवर्तन-शील रूप ने उनकी समस्त आशाओं-आकांक्षाओं को झकझोर दिया है। परिवर्तन, प्रकृति और जीवन का शाश्वत नियम है, लेकिन इस नियम को समझने की दार्शनिक दृष्टियां परस्पर विरोधी भी हो सकती हैं—एक दृष्टि से परिवर्तन निष्क्रियता और निरुपायता और घोर भाग्यवादी नैराश्य-भावना को जन्म दे सकता है, दूसरी दृष्टि से परिवर्तन के नियम की चेतना रूढ़ि-रीतियों से ग्रस्त मानव-समाज को बदल कर नये निर्माण की प्रेरणा दे सकती है। आध्यात्मिक दर्शन पहली भावना को जन्म देता है तो वैज्ञानिक भौतिकवादी दृष्टि संसार को बदलने की प्रेरणा देती है। पंत जी ने जिस समय 'परिवर्तन' की रचना की उस समय उन पर आध्यात्मिक दर्शन, विशेषकर उपनिषदों का, प्रभाव था, इसलिए उन्होंने 'निष्ठुर' और 'दुर्जेय विश्वजित्' परिवर्तन

को एक ऐसे उग्र और विराट् रूप में देखा, जिसके आगे मनुष्य की इच्छा-अनिच्छा, सुख-दुख, जीवन-मरण का कोई मूल्य नहीं है। 'परिवर्तन' की यह कल्पना किसी अन्य कवि में नियतिवाद और निराशा-वाद के अभावात्मक (नैगेटिव) दृष्टिकोण को उभारती, लेकिन पंत का सौंदर्यानुरागी संवेदनशील मन मानव-प्रेम से द्रवित हो उठा। 'गुंजन' की कविताओं में उनकी कल्पना आत्म-चिन्तन और लोक-कल्याण की भूमियों पर विचरण करती हुई सुख-दुख में समत्व स्थापित करने की ओर उन्मुख हुई। अध्यात्मिक दर्शन का प्रभाव यहां भी प्रबल है, जिसके कारण सुख-दुख की नित्यता को स्वीकार करके उनमें सामंजस्य स्थापित करने की आदर्शवादी कामना है। लेकिन जीवन के हर्ष-विमर्षों और उच्चादर्शों के प्रेमी कवि का मन इस निष्क्रियतावादी समन्वय से सन्तुष्ट नहीं हुआ—'लगता अपूर्ण मानव-जीवन, मैं इच्छा से उन्मन-उन्मन।' पन्त जी स्वभावतः संघर्ष-प्रिय या निराशावादी व्यक्ति नहीं, जैसा कि उन्होंने स्वयं अपनी कविता के विकास को समझाते हुए 'आधुनिक कवि', भाग २ की भूमिका में कहा है। इसी लिए 'गुंजन' के गीतों में ही उनके मानवता-प्रेमी दृष्टिकोण का वह रूप गोचर होने लगता है जिस में वे 'वर्तमान समाज की कुरूपताओं से कट कर भावी समाज की कल्पना' और कामना करते दीखते हैं। गुंजन के बाद की कविताओं में मानव-जीवन की संभावनाओं के प्रति आस्थाशील कवि की कामनाएँ विविधि रूप-चित्रों के द्वारा व्यक्त हुई हैं। अपने व्यक्तिगत सुख-दुख को वाणी न देकर प्रगतिशील मानवता की आकांक्षाओं को उन्होंने बार-बार प्रार्थना के रूप में मुखरित किया है।

नव छवि, नव रंग, नव मधु से
मुकुलित पुलकित हो जीवन

निश्चय ही संघर्ष-प्रिय निराला या निराशावादी महादेवी या बच्चन जैसी हार्दिकता पंत के काव्य में नहीं मिलती। 'पल्लव' के बाद उनका जग-चिन्तन उन्हें व्यापक कल्याण की भावना में ही सत्य और सौन्दर्य

की खोज करने को प्रेरित करता रहा है, जिससे उनके विचारों की दार्शनिक पृष्ठ-भूमि चाहे उपनिषदों का अद्वैतवाद हो या मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या गांधी और अरविन्द का दर्शन, उनकी सहानुभूतियाँ बौद्धिक धरातल की ही अधिक रही हैं। 'गुंजन' में उन्होंने यह आग्रह प्रकट भी किया था—'सुन्दर विश्वासों से ही बनता रे यह सुखमय जीवन'। हिन्दी के अनेक विद्वान् और भाव-प्रवण आलोचकों को पंत जी की कविता का यह नया मोड़, जो 'युगान्त' 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' में और अधिक सुस्पष्ट होता गया, रुचिकर नहीं लगा। उन्हें 'पल्लव' की कविताओं की अलंकार-सज्जित, ऐन्द्रिक रूप-चित्रों का निर्माण करने वाली सौन्दर्य-कल्पना के मुक़ाबले में लोक-मंगल की भावना से प्रेरित, दलित-शोषित मानवता के प्रति बौद्धिक सहानुभूति व्यक्त करने वाली कविताएँ नीरस लगीं। पंत जी ने अपनी सफ़ाई में कहा कि "बौद्धिकता भी हार्दिकता का ही एक रूप है, वह हृदय की कृपणता से नहीं आती।" और 'युगान्त', 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविताएँ सचमुच हिन्दी-काव्य के लिए एक नये पथ का निर्देश करती हैं, जिनमें यद्यपि 'पल्लव' जैसी मांसलता नहीं, लेकिन जीवन के मूर्त्त-चित्रों की भी कमी नहीं है। किन्तु लगता है कि पंत जी के आलोचकों का भय ही ठीक निकला, क्योंकि 'ग्राम्या' के बाद की कविताओं में मनुष्य के भावी विकास की आदर्श-कल्पनाएँ, जीवन के व्यापक सत्य की उद्‌भावनाएँ और बाह्य और अन्तर्जीवन के समन्वय की दार्शनिक विचारणाएँ बौद्धिक चिन्तन के अतिशय आरोप के कारण निरी अमूर्त्त (एब्सट्रैक्ट) हो गयी हैं। 'ग्राम्या' के बाद का पंत-काव्य छायावादी कविता-शैली में रचा पंत-दर्शन बनता गया है। स्वर की उदात्तता, भावनाओं की मानवीयता और भाषा की सुकुमारता के कारण इन रचनाओं को कविता चाहे कहलें, किन्तु वास्तव में वे दार्शनिक रचनाएं हैं। कल्पना और काव्या-भरण तो केवल पंत के दार्शनिक चिन्तन को अभिव्यक्ति देने के उपकरण मात्र हैं। इसीलिए अब आलोचक 'ग्राम्या' से बाद की रचनाओं के

काव्यगत सौन्दर्य की विवेचना में न पड़कर पंत के समन्वयवादी दृष्टिकोण या दर्शन का ही समर्थन या विरोध करने में प्रवृत्त होते हैं। 'युगवाणी' के गीत-गद्य के बाद 'ग्राम्या' में नये जीवन-बोध से प्रेरित कवि ने ग्रामीण-जीवन के अनेक मूर्त्त चित्र दिये थे और आशा बँधी थी कि उनके बौद्धिक चिन्तन और आत्म-मंथन ने लोक-मंगल की भावना में पूर्णतः पर्यवसान करके युग-सत्य की उपलब्धि करली है, और पंत में पुनः भावना की समग्रता पैदा होगी और वे नये सत्य को काव्य की मूर्त्त भाषा में व्यक्त करेंगे। लेकिन भावना की समग्रता पुनः न पैदा हो सकी, क्योंकि जीवन की कुरूपता और विषमता के सामने पड़कर सामान्य मनुष्य की प्रतिक्रिया उससे संघर्ष करने की या उससे भागकर निराशा के गर्त में डूबने की होती है। पंतजी अपने साधु और उदात्त चिन्तनशील स्वभाव के कारण इन दोनों प्रकार की प्रतिक्रियाओं से निस्संग रहकर लोक-मंगल और केवल बौद्धिक भावना-प्रक्रिया के तल पर नयी मानववादी संस्कृति के निर्माण-स्वप्न कल्पना में गूँथते रहे, और कवि से एक मनीषी चिन्तक बन गये। अपने स्वभाव की इस विशिष्टता का उन्होंने बार-बार उल्लेख किया है।

दोनों महायुद्धों के बीच की पाश्चात्य कविता में भी बौद्धिकता का ही प्राधान्य है, किन्तु यह बौद्धिकता अतिवैयक्तिकता, अनास्था, निराशा और मानवद्रोह के रूप में मुख्यतः व्यक्त हुई है। एक भयंकर और रुग्ण स्नायविक विक्षोभ की प्रतिध्वनियों ने पाश्चात्य कविता के अंतरंग जीवन-बोध, भाव और अनुभूति के ताने-बाने को विशृंखल कर दिया है। पंत की सामाजिक बौद्धिकता इसके विपरीत है, वह एक नये जीवनादर्श के प्रकाश से आलोकित है, किन्तु फिर भी इधर की कविता देखकर लगता है कि वे कविता में दार्शनिक गांभीर्य नहीं भर रहे, बल्कि दर्शन को काव्य-रूप देकर तरल बना रहे हैं। काव्य की दृष्टि से दोनों में अन्तर है। 'युगवाणी' में पंत जी ने घोषणा की थी :

बन गये कलात्मक
जगत के रूप नाम
जीवन संघर्ष देता सुख
लगता ललाम।

इससे एक स्वाभाविक आशा पैदा हुई थी कि अयास बहने वाली युगवाणी में युग का सम्पूर्ण वेदन प्रतिध्वनित होगा, क्योंकि कवि जीवन-संघर्ष में सुख का अनुभव करने लगा है। "आज मनुज को खोज निकालो", "मुक्त करो नारी को मानव", "सत्य नहीं वह, जनता से जो नहीं प्राण सम्बन्धित" आदि से लगा कि कवि सत्य, शिव, सुन्दर को वर्गों की सीमा में से निकाल कर ऊर्ध्वमूल संस्कृति को अधोमूल बनाने के लिए अपने कोमल मन के बावजूद शोषित मानवता के कठोर कर्ममय जीवन की वेदना और नये जीवन और नयी मानवीय संस्कृति के निर्माण की संघर्ष चेष्टाओं का मूर्त्त, भावपूर्ण चित्रों की भाषा में अंकन करेगा। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की 'जीवप्रसू', 'चींटी', 'नारी', 'दो लड़के', 'निश्चय', 'खोज', 'लेनदेन', 'झंझा में नीम', 'ग्राम युवती', 'ग्रामश्री', 'वे आँखें','धोबियों का नृत्य', 'स्वीट पी के प्रति' 'भारत माता','वह बुड्ढा', 'गंगा', 'चमारों का नाच', 'संध्या के बाद', 'रेखाचित्र', 'पतझर' आदि प्रकृति और जीवन के मांसल चित्र अंकित करने वाली ऐसी कविताएँ हैं, जिन्होंने छायावादी कविता को एक नया प्रगतिशील काव्यादर्श और जीवन-बोध दिया। सन् १६३८ और १६४५ के बीच इन कविताओं ने प्रगतिशील धारा को अपना नया रूप-संस्कार करने की प्रेरणा दी। लेकिन 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' में भी अमूर्त्त दार्शनिक विचारों को उदात्त उद्गारों के रूप में व्यक्त करने वाली कविताओं की पर्याप्त संख्या है, और आगे की कविताओं में तो यह प्रवृत्ति ही प्रधान हो उठी, और 'ग्राम्या' ने जिस आशा को अंकुरित किया था, वह पल्लवित न हो सकी।

इस विवेचन के बावजूद, पंत-काव्य को यदि समग्र रूप से देखें तो उनकी सूक्ष्म सौन्दर्य-दृष्टि और सुकुमार उदात्त कल्पना हिन्दी काव्य-

साहित्य में अनन्य है। लोक-मंगल की साधना करने वाले इस महाकवि जैसी युग-जीवन की व्यापक आर्थिक-सांस्कृतिक समस्याओं की चेतना भी अन्यत्र दुर्लभ है। जिस 'परिवर्तन' को पहले उन्होंने एक भाग्यवादी की दृष्टि से देखा था, आज लोक-मंगल के लिए वे उसी की आवश्यकता का अनुभव करते हैं :

यह सच है जिस अर्थ-भित्ति पर
विश्व-सभ्यता आज खड़ी है
बाधक है वह जन-विकास की—
उसमें आज अपेक्षित है व्यापक परिवर्तन
भू-मंगल हित।
धनिक-श्रमिक के बीच भयंकर
जो शोषित-पंकिल खाई है
वर्ग भेद की
उसे पाटना है इस युग को
आत्म-त्याग से,
सहिष्णुता, शिक्षा-समत्व से
और नहीं तो,
सत्याग्रह के शत शत निर्भय बलिदानों से!
जिससे भू का रक्त-क्षीण शोणित विषण्ण-मुख
फिर प्रसन्न जीवन मांसल हो, युग शोभन हो!
उत्तर शती अवश्य यंत्र-युग के विप्लव में
सामञ्जस्य नया लायेगी जनमन वांछित
जिससे
शिक्षा, संस्कृति, सामूहिक विकास का
पथ प्रशस्त हो पायेगा
युग मानव के हित!

(उत्तर-शती रूपक से)

छायावाद-युग के इन तीन महाकवियों के अतिरिक्त इस धारा के अन्य महत्वपूर्ण कवियों में महादेवी वर्मा, 'बच्चन', 'दिनकर,' भगवती चरण वर्मा, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', उदयशंकर भट्ट, रामकुमार वर्मा, नरेन्द्र शर्मा, 'अंचल' के साथ-साथ जगन्नाथ प्रसाद मिलिन्द, हरिकृष्ण 'प्रेमी', मोहनलाल महतो 'वियोगी', केदारनाथ मिश्र प्रभाकर, गोपालसिंह नैपाली, जानकी वल्लभ शास्त्री, सुमित्राकुमारी सिन्हा, विद्यावती कोकिल, हंसकुमार तिवारी आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। हम पहले कह चुके हैं कि छायावादी कविता में अनेक प्रवृत्तियां और अनेक दृष्टिकोणों की संश्लिष्ट अभिव्यंजना हुई है। जिन तीन महाकवियों का हमने ऊपर विवेचन किया है उनकी कविता का अन्तःस्वर यद्यपि सर्वत्र उदात्त है और उनकी चेष्टा सदा अपने व्यक्तिगत सुख-दुख से ऊपर उठकर समूची जाति के सुख-दुख को अभिव्यक्ति देने की ओर रही है, फिर भी उनके काव्य में एक-रसता नहीं है, यद्यपि उल्लास भी है, मर्मान्तक वेदना भी है, बहिर्मुख दृश्य-चित्रण भी है और अन्तर्मुख भाव-चित्रण भी। साथ ही, ये तीनों महाकवि सामन्ती मूल्यों के विरुद्ध युगानुकूल जीवन के व्यापक मान-मूल्य निर्धारित करने की ओर भी सतत् प्रयत्नशील रहे हैं। किन्तु सन् १६३० के बाद ही छायावादी-काव्य में और अनेक नयी प्रतिभाएं मुखर हो उठीं, जिनमें भावों की गहराई और आवेग चाहे अधिक हो, किन्तु दृष्टि उतनी व्यापक नहीं थी। अपने व्यक्तिगत स्वभाव, जीवनानुभव और रुचि के अनुसार ये कवि छायावाद की प्रधानतः एक-एक प्रवृत्ति के गीतकार बनकर आगे बढ़े, जिससे उनकी कविता में जहाँ एकोन्मुखी और एक-सूत्रीय सघनता अधिक है तो एक ही भाव की विभिन्न अवस्थाओं और परिस्थितियों की आवृत्ति भी बहुत है, और समग्र-रूप से उनकी काव्य-भूमि का दायरा संकीर्ण होगया है। इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद की परिणति वैयक्तिकता में होने की प्रक्रिया शुरू हो जाती है, काव्य का उदात्त अन्तःस्वर मन्द पड़ने लगता है और जीवन-मूल्यों का विघटन शुरू हो जाता है। यह ह्रास की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया को

समग्र रूप में ही समझना चाहिए; अन्यथा, प्रत्येक कवि ने अंश रूप में हिन्दी-काव्य को नई देन दी है, और उस सीमा तक उसका विकास किया है।

महादेवी वर्मा (१९०७—) की कविता में वैयक्तिक अनुभूति के तल पर सामन्ती समाज के बन्धनों में ग्रस्त भारतीय नारी-जीवन की निबिड़ वेदना, पीड़ा और कहीं-कहीं मुक्ति-आकांक्षा व्यक्त हुई है। इसी कारण अनेक आलोचकों ने महादेवी जी को निराशावाद या पीड़ा-वाद की कवियित्री कहा है। स्वयं महादेवी जी ने लिखा है—"दुख मेरे निकट-जीवन का ऐसा काव्य है जो सारे संसार को एक-सूत्र में बांध रखने की क्षमता रखता है। हमारे असंख्य सुख हमें चाहे मनुष्यता की पहली सीढ़ी तक भी न पहुँचा सकें, किन्तु हमारा एक बूंद भी जीवन को अधिक उर्वर बनाये बिना नहीं गिर सकता।...विश्व-जीवन में अपने जीवन को, विश्व-वेदना में अपनी वेदना को इस प्रकार मिला देना जिस प्रकार एक जल-बिन्दु समुद्र में मिल जाता है, कवि का मोक्ष है।" इसी प्रसंग में उन्होंने पुनः कहा है, "मुझे दुख के दोनों ही रूप प्रिय हैं, एक वह जो मनुष्य के संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बंधन में बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और सीमा के बंधन में पड़े हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।" महादेवी के गद्य में अपने संवेदनशील हृदय को सारे संसार से एक अविच्छिन्न बंधन में बाँध देने वाले दुख (आत्मीयता, करुणा, सहानुभूति) का रूप व्यक्त हुआ है तो उनकी कविताओं में 'काल और सीमा के बन्धन में पड़े हुए असीम चेतन (नारी-जीवन के सामाजिक बन्धनों की चेतना) का क्रन्दन है।' आध्या-त्मिक दर्शन और विशेषकर बुद्ध की करुणा ने उनकी वेदना की अनु-भूति को लोक-दृष्टि और उदात्त आधार दिया है। कुछ आलोचक इस आध्यात्मिक दर्शन के कारण ही महादेवी की कविता को रहस्यवादी और लोकोत्तर सिद्ध करते आये हैं, किन्तु यदि महादेवी जी के वक्तव्य को ही ठीक से परखा जाय तो उनकी कविता में व्यक्त असीम और अज्ञात की

चाह, और पीड़ा-वेदना का मोह एक ओर वर्तमान समाज के रूढ़ि-बन्धनों में ग्रस्त नारी-हृदय का चीत्कार है, तो दूसरी ओर पाठक में दुख की गहरी अनुभूति जगा कर इस विषमावस्था के प्रति चेतना (पीड़ित के प्रति आत्मीयता, करुणा और सौहार्द्र भावना) उद्बुद्ध करने का सूक्ष्म सांस्कृतिक प्रयास है। जहाँ जिस समाज में वर्ग-भेद और असमानता हो, वहाँ अधिकार-वंचितों को उनका सामान्य दुख एकता के सूत्र में बाँधता है, यह एक ऐतिहासिक सत्य है। हमारे राष्ट्रीय जागरण की जिस साम्राज्य-विरोधी और सामन्तवाद-विरोधी पृष्ठभूमि में छायावादी कविता का विकास हुआ, उसमें व्यक्तिगत दुख और वेदना के गीतों में भी सामाजिक दुख और वेदना ही प्रतिध्वनित हुई है। इन गीतों के उपमान और प्रतीक वैयक्तिक नहीं हैं, बल्कि लोक-चेतना में सहज प्रेषणीय बाह्य प्रकृति और जीवन से लिये गये हैं। महादेवी जी की विशेषता यह है कि छायावाद ने व्यक्ति और समाज की जिस व्यापक असन्तोष-भावना को अभिव्यक्ति दी उसमें उन्होंने भारतीय नारी के असन्तोष, निराशा और आकांक्षा का स्वर भी जोड़ दिया। अपनी युग-युगान्तर से चली आने वाली निगूढ़ व्यथा में भारतीय नारी यदि चीत्कार कर उठती है, 'मैं नीर भरी दुख की बदली !' तो उसे इसका भी ऐहसास है वह 'रात के उर में दिवस की चाह का शर' है। महादेवी की कविताओं में पीड़ा और विरह की स्थिति के प्रति एक निराशावादी की आसक्ति बार-बार व्यक्त हुई है, 'मिलन का मत नाम ले, मैं विरह में चिर लीन हूँ' या 'तुम को पीड़ा में ढूँढा, तुम में ढूँढूँगी पीड़ा।' साथ ही उन्होंने जीवन और सौन्दर्य की आकांक्षा भी अनेकविध रूपों में व्यक्त की है :

कंटकों की सेज जिसकी आँसुओं का साज
सुभग ! हँस उठ, उस प्रफुल्ल गुलाब ही सा आज
बीती रजनि, प्यारे जाग।

महादेवी जी के गीत अपनी सुन्दर चित्रमय व्यंजना के कारण अनूठे हैं।

रामकुमार वर्मा[1] (सन् १६०५—) पर महादेवी वर्मा की तरह कबीर और दूसरे रहस्यवादी कवियों का प्रभाव है। उनकी रहस्य-चेतना में भी निराशा का स्वर तीव्र है। साथ ही, अज्ञात के प्रति कौतूहल और जिज्ञासा की भावना में एक बौद्धिक अविश्वास और सन्देह का भाव भी है, जो जीवन के प्रति उस अविश्वास की ही प्रतिध्वनि है जिसका पूरा विस्फोट परवर्ती कवियों की रचनाओं में मिलता है—

उषे, बतला यह सीखा हास कहाँ?

....

यदि तेरा जीवन जीवन है तो फिर है उच्छ्वास कहाँ?
अपने ही हँसने पर तुझ को क्षणभर है विश्वास कहाँ ?

समाजोन्मुखता का परित्याग कर जब व्यक्तिवाद आत्म-निष्ठ हो जाता है, तब स्वयं अपने को सारे विश्व का केन्द्र मानकर चलने की प्रवृत्ति भी उसमें मुखर हो उठती है। रामकुमार वर्मा में भी इस प्रवृत्ति की अनुगूंज सुनाई पड़ने लगती है :

एक दीपक—किरण कण हूँ
धूम्र जिसके क्रोड़ में है
उस अनल का हाथ हूँ मैं
नव प्रभा लेकर चला हूँ
पर जलन के साथ हूँ मैं।
सिद्धि पाकर भी तपस्या—
साधना का ज्वलित क्षण हूँ।

ऐसे ही अनेक सुन्दर गीतों में वर्मा जी ने अपनी रहस्य-चेतना को व्यक्तिवाद, निराशा और सन्देह की भावनाओं में रंग कर प्रकृति और जीवन के शब्द-चित्र अंकित किये हैं। उनकी कविता छायावादी शैली और

---

१. श्रीरामकुमार वर्मा के कविता-संग्रह—अन्जलि, अभिशाप, रूपराशि, चित्ररेखा, चन्द्रकिरण।

काव्य-वस्तु से अपने को मुक्त करके नहीं चली, यद्यपि उसमें इस शैली के बन्धन कुछ ढीले पड़ते अवश्य दिखाई देते हैं। यह कार्य 'बच्चन' और 'दिनकर' ने अपने-अपने ढंग से किया, जिन्होंने अपने व्यक्तिगत उद्‌गारों या लौकिक भावनाओं को व्यक्त करने के लिए रहस्य-कल्पना तथा किसी चिर अज्ञात या सविशेष की उद्‌भावना या मध्यस्थता आवश्यक नहीं समझी।

हरिवंशराय 'बच्चन'[1] (सन् १९०७—) हिन्दी में मधु के गीत लेकर अवतीर्ण हुए। उनकी प्रारम्भिक कविताओं पर अंग्रेज़ी कविता और उमर ख़ैयाम की रुबाइयों का प्रभाव स्पष्ट है। 'बच्चन' की कविता में स्वच्छन्दतावादी व्यक्तिवाद ने एक नयी दिशा पकड़ी। 'प्रसाद', 'पंत', 'निराला', महादेवी की कविता पर प्राचीन भारतीय अध्यात्म दर्शनों और रहस्यवाद का प्रभाव था, जिसके कारण उनकी कविता में व्यक्तिगत सुख-दुख और सामाजिक सुख-दुख में समत्व स्थापित करते चलने की उदात्त-भावना निरन्तर क्रियाशील दीखती है। इससे उनकी कविता में एक ऐसी निस्संगता, निर्वैयक्तिकता, सात्विकता और मर्यादा है, जो जीवन के संघर्षों में फँसे लोगों को वायवी, अशरीरी और काल्पनिक लगी।

इसकी प्रतिक्रिया हुई और 'बच्चन' ने मधु और यौवन के गीत गाने शुरू किये। 'बच्चन' की प्रारम्भिक रचनाओं में प्रबल जीवनाकांक्षा का उन्मद आग्रह है, "है आज भरा जीवन मुझ में, है आज भरी मेरी गागर!" लेकिन उनका यह जीवनोल्लास और जग का ह्रास-रुदन भूलकर मधुमय हो जाने का आत्म-केन्द्रित व्यक्तिवाद रूढ़िवादी समाज को रुचिकर नहीं लगा। 'बच्चन' ने तब सामाजिक-विरोध के

१. बच्चन जी के काव्य-संग्रह : तेरा हार (प्रारंभिक), मधुशाला, मधुबाला, मधुकलश, ख़य्याम की मधुशाला (अनुवाद) निशा-निमंत्रण, एकान्त-संगीत, आकुल-अन्तर, सतरंगिनी, हलाहल, मिलन-यामिनी आदि।

बीच, सामाजिक मान्यताओं को चुनौती देते हुए अपने मधु-गीतों की सृष्टि की। 'कह रहा जग वासनामय हो रहा उद्गार मेरा !' या 'है कुपथ पर पाँव मेरे आज दुनिया की नज़र में'—सामाजिक विरोध के प्रति कवि के उपालम्भ की सूचना देने वाली कविताएँ हैं। इनमें पुरानी सामाजिक मर्यादाओं, धर्म, लोकाचार और नैतिकता के विरुद्ध कवि का विद्रोह पूरे ज़ोर से व्यक्त हुआ है। पुरानी मान्यताओं के प्रति यह प्रतिक्रिया अभावात्मक (नैगेटिव) या व्यक्तिवादी ही है, जिससे वह उनके स्थान पर, भोगवाद को छोड़कर, कोई नया जीवनादर्श स्थापित नहीं कर पाता। 'लहरों का निमन्त्रण' सुनकर वह सामने पड़े अंबुधि में तैर कर उस पार जाने को तत्पर होता है क्योंकि 'कुछ विभा उस पार की इस पार लाना चाहता हूँ', किन्तु अन्त में इस अभियान की कल्पना केवल व्यक्ति की एक उमंग, नयी राह और पथ पर चलकर अपने व्यक्तित्व को प्रमाणित करने की आकांक्षा में ही सीमित होकर रह जाती है। उसके किसी ज्ञात लक्ष्य या परिणाम से कवि सरोकार नहीं रखता। कुछ भी हो 'बच्चन' ने जिस दर्प और अहंभाव से समाज की मान्यताओं को चुनौती दी, वह सन् १९३५-४० के काल में देश के विषण्ण-मन युवकों को बहुत भाया। मर्यादाओं को तोड़ना मात्र भी कभी जीवन की चरम सिद्धि-सी दिखाई देने लगती है, विशेषकर उस समय जब मर्यादाएँ भावी-विकास में बाधक बन रही हों। लेकिन कोरी अभावात्मक प्रतिक्रिया मनुष्य के उदात्त अन्तःस्वर को ही अनुदात्त नहीं बना देती, उसमें घोर निराशा और विफलता का भाव भी उत्पन्न करती है। 'बच्चन' की कविताओं में वैयक्तिक अहंकार-दर्प के साथ-साथ निराशावाद के भाव भी प्रमुख हो उठे।

'मधुकलश' की कविताओं में भी निराशा का स्वर छिपा नहीं है, स्वयं कवि ने इसकी सफ़ाई दी है :

पूछता जग, है निराशा से
भरा क्यों गान मेरा?
मुस्करा कठिनाइयों
आपत्तियों को दूर टाला,
धैर्य धर कर संकटों में
खूब अपने को संभाला,
किन्तु जब पर्वत पड़ा आ
शीश पर मैं सह न पाया
जब उठा हो भार जीवन
तब उठाया होठ प्याला
व्यर्थ कर दिन-रात निंदा
विश्व ने जिह्वा थकाई,
था बहाना एक मन—
बहलाव का मधुपान मेरा!

महादेवी के कविता-संग्रहों में जैसी एक-सूत्रीय योजना मिलती है, बच्चन के संग्रहों में भी वैसी ही योजना है, अर्थात् एक-एक संग्रह के गीतों में एक ही जैसे भावों का उद्रेक करने वाले बाह्य और आन्तरिक-जीवन की स्थितियों और प्रसंगों को लेकर गीत-रचना की गई है। 'निशा-निमन्त्रण' में सायंकाल से लेकर प्रातः काल तक के गीत हैं, जिसमें कवि ने एक कल्पित साथी को लक्ष्य करके अपने हृदय में छाये शोक को सौ गीतों की शृंखला में बाँधा है। 'एकान्त-संगीत' में यह कल्पित-साथी भी बिछुड़ गया है, और कवि के हृदय की वेदना भी अधिक घनीभूत हो गई है। वह बाह्य-जगत् से अपने को अलग करके स्वयं अपने में ही डूब गया है। एकान्त-संगीत के गीत स्वीगत हैं।

'निशा-निमंत्रण' और 'एकान्त-संगीत' के गीत 'मधुशाला' और 'मधुकलश' की कविताओं की तरह ही लोक-प्रिय हुए। अपनी वेदना-सिक्त भावनाओं में रंग कर उन्होंने सरल बोल-चाल की भाषा में प्रकृति-

दृश्यों और अपनी मनोदशाओं के जो मूर्त्त शब्द-चित्र अंकित किये वे हिन्दी-कविता में एक नई चीज़ थे। 'क्या तुम तूफ़ान समझ पाओगे ?', 'संध्या-सिन्दूर लुटाती है', 'यह पपीहे की रटन है' 'अब मत मेरा निर्माण करो', 'तब रोक न पाया मैं आँसू', 'त्राहि-त्राहि कर उठता जीवन' 'अब खण्डहर भी टूट रहा है' आदि अनेक गीत मूर्त्त चित्रांकन और गहरी हार्दिक-वेदना के कारण अविस्मरणीय हैं। कुछ गीतों में वेदना इतनी घनीभूत है कि कवि ने जीवन का तिरस्कार और उपहास भी किया है, किन्तु कुछ गीतों में उसका व्यक्तिवाद तिल-मिलाकर पूरे मानवोचित दर्प से गरज उठा है, जैसे 'विष का स्वाद बताना होगा।' 'क्षतशीश मगर नतशीश नहीं', 'प्रार्थना मत कर, मत कर, मत कर !' या 'अग्नि-पथ ! अग्नि-पथ ! अग्नि-पथ !'

यह महान् दृश्य है
चल रहा मनुष्य है
अश्रु-स्वेद-रक्त से
लथपथ ! लथपथ ! लथपथ !

किन्तु 'बच्चन' के 'आकुल अन्तर' तक के गीत 'मैंने गाकर दुख अपनाये' की भावना के ही गीत हैं और उनमें जीवन के प्रति गहरा विक्षोभ, नैराश्य और अविश्वास व्यक्त हुआ है। 'चाँद सितारे मिलकर बोले', में इस दृष्टि से सुख-दुख की सांसारिक उपलब्धियों की क्षणभंगुरता का मार्मिक अंकन है। किन्तु 'सतरंगिनी' और 'मिलन-यामिनी' की कविताओं में इस मर्मान्तक निराशा का स्वर पुनः आशा और उल्लास में परिणत होते दीखा है, उनका गीत 'नीड़ का निर्माण फिर फिर !' इस नये मोड़ का प्रतीक है।

'बच्चन' के गीतों ने हिन्दी-कविता का एक नया रूप-संस्कार किया। भाषा सरल, मुहावरेदार और व्यक्तिगत वेदना की अनुभूति से मूर्त्त और भाव-सिक्त हो उठी। काव्य-वस्तु का क्षेत्र यद्यपि सीमित हो गया लेकिन अभिव्यक्ति में अधिक मांसलता और हार्दिकता आगई, जिसके कारण

अनुभूतियों का प्रेषण अधिक सहज बन गया। इस ह्रास-प्रक्रिया के दौर में भी एक नया उठान-सा आया। जीवन के व्यापक प्रश्नों से हटकर नये कवियों की एक पीढ़ी की पीढ़ी निःस्वप्न और निर्भ्रान्त हो अपने व्यक्तिगत दुखों को गीत-बद्ध करने लगी। व्यक्तिवादी धारा का यह ऐसा स्फुरण था जिसके बाद काव्य-वस्तु, काव्य-भाषा, अनुभूति और अभि-व्यंजना सभी क्षेत्रों में एक भयंकर विघटन अनिवार्य हो गया। यह गीत इस बात के प्रमाण हैं कि कवि अपनी व्यक्तिगत वेदना को मूर्त्त चित्रों की भाषा में अभिव्यक्ति देकर सामाजिक बना रहा है, इसीलिए पाठकों ने उनमें अपने दुखों को ही प्रतिबिम्बित होते देखा। लेकिन जीवन का यह अत्यन्त सीमित और एकांगी आकलन ही था, इसीलिए जब इन गीतों की आवृत्ति एक फ़ैशन-सी बन गयी, तब जो प्रतिक्रिया हुई उसने हिन्दी-कविता को अनेक छोटी-छोटी धाराओं में बिखर कर अग्रसर होने को विवश कर दिया।

इस प्रसंग में श्री भगवतीचरण वर्मा, नरेन्द्र शर्मा और रामेश्वर शुक्ल 'अंचल' के नाम भी उल्लेखनीय हैं। **श्री भगवतीचरण वर्मा**[1] (सन् १९०३—) भी 'बच्चन' की तरह छायावाद की रहस्यात्मकता और आध्यात्मिकता को चुनौती देते हुए मधु, उल्लास और यौवन के गीत गाते हुए आगे बढ़े। उन्होंने अपने यौवन और प्रेम की आकांक्षाओं को किसी तात्विक चिन्तन या नैतिक अवगुंठन में छिपा कर उपस्थित करना उचित नहीं समझा। 'बच्चन' की तरह उनकी कविता में भी लाक्षणिक व्यंजना या अप्रस्तुतों की योजना का अभाव है। व्यंग और अतिशयोक्ति की सहायता से उन्होंने भी अभिधा में अपने भावों को सरल, किन्तु आकर्षक ढंग से व्यक्त करना शुरू किया :

---

१. **श्री भगवतीचरण वर्मा के कविता-संग्रह : मधुकण, प्रेमसंगीत, मानव।**

'हम दीवानों की क्या बस्ती आज यहाँ रहे कल वहाँ रहे ,
मस्ती का आलम साथ चला हम धूल उड़ाते जहाँ चले ।'

यह आत्म-केन्द्रित 'मस्ती का आलम' 'मधुकण' और 'प्रेम-संगीत' की कविताओं तक ही रहा। 'मानव' में वर्मा जी की दृष्टि प्रगतिवाद से प्रभावित होकर संसार में फैले दुःख और उत्पीड़न की ओर गई। 'कवि का स्वप्न' में उन्होंने मधु से मतवाले मधुवन में मदन जैसे सुन्दर युवक और रति जैसी सुन्दर युवती के मधुर-प्रणय की कहानी लिखने के लिए तत्पर कवि के स्वप्न-भंग का चित्र खींचा है :

कवि सहसा सिहरा, काँप उठा
सुन भूखे बच्चों का रोदन
पत्नी की पथराई आँखों में
केन्द्रित था जग का क्रन्दन,
गन्दे-से टूटे कमरे में
होता अभाव का था नर्तन
कवि खड़ा हो गया पागल-सा
उसके उर में थी कौन जलन ?

उनके कविता-संग्रह 'मानव' में अभाव-पीड़ित मनुष्यों के प्रति सहानुभूति और करुणा से द्रवित भावना के अनेक चित्र हैं। उनकी कविता 'चली आ रही भैंसागाड़ी, चूँ चरर मरर चूँ चरर मरर' हमारे ग्राम-जीवन के सनातन पिछड़ेपन की प्रतीक है। इस प्रकार 'मस्ती का आलम' छोड़कर वर्माजी प्रगतिशील भावनाओं को अभिव्यक्ति देने लगे।

नरेन्द्र शर्मा[1] (सन् १९१३—) की प्रारंभिक कविताओं में मस्ती और उल्लास की नहीं एक भावुक और कल्पनाशील युवक की प्रेम-

---

१. श्री नरेन्द्र शर्मा के कविता-संग्रह : पलाश-वन, प्रभात फेरी, प्रवासी के गीत, कामिनी (एक कथा गीत) मिट्टी और फूल, हंसमाला, रक्त-चन्दन और अग्निशस्य ।

याचनाएँ और विरह-दग्ध हृदय की करुण स्मृतियाँ व्यक्त हुई हैं। नरेन्द्र शर्मा की कविताओं का स्वर और उसकी भाषा अनासक्त भोक्ता का स्वर या उसकी भाषा नहीं है : "सुमुखि तुम को भूल जाना है असम्भव है असम्भव !" बाद की कविताओं में प्रगतिवादी विचारधारा और आन्दोलन का प्रभाव भी काफ़ी स्पष्ट है, लेकिन उनकी भावुकता उन्हें प्रेम-गीत रचने के लिए बाध्य करती रहती है। नरेन्द्र शर्मा ही पहले कवि हैं, जिन्होंने अपने मन में बुद्धि और भावुकता के बीच चलने वाले अन्तर्द्वन्द्व को निस्संकोच स्वीकार किया। 'प्रवासी के गीत' की भूमिका में उन्होंने अपने हृदय की 'क्षयी रोमांस के प्रति आसक्ति' का पश्चात्ताप भरे शब्दों में उल्लेख किया। आगे चल कर 'मिट्टी और फूल' की भूमिका में भी उन्होंने स्वीकार किया कि 'मैं मन की दुर्बलताओं का कवि हूँ।' हिन्दी काव्य-साहित्य के इतिहास में कवि द्वारा अपनी दुर्बलताओं की ऐसी आत्म-स्वीकृति एक नई चीज़ थी। इसमें कवि के युग-द्रष्टा या स्रष्टा रूप के गौरव की अस्वीकृति है। यहाँ तक कि स्वयं अपने ही 'व्यक्तित्व' की अस्वीकृति है। विचार और भावना के तल पर व्यक्तिवाद की परिणति 'व्यक्तित्व' के तिरोभाव में ही होती है। आगे चल कर प्रयोगवादी धारा में कवि के 'व्यक्तित्व' और गौरव का और भी विलोप हो गया। फरक़ सिर्फ़ इतना है कि जहाँ नरेन्द्र शर्मा और फिर 'अंचल' में अपने मन की दुर्बलताओं से लड़ने और मनुष्य की प्रगतिशील भावनाओं और आकांक्षाओं को अभिव्यक्ति देने की सजग चेष्टा दिखाई पड़ी, वहाँ प्रयोगवादियों में मन की दुर्बलताओं को ही निरपेक्ष सत्य मान कर उनका औचित्य सिद्ध करने की चेष्टा प्रधान हो उठी। नरेन्द्र शर्मा की जिन कविताओं में उनके मन का अन्तर्द्वंद्व व्यक्त हुआ है, उनमें पर्याप्त मार्मिकता है : 'उजड़ रहीं अनगिनत बस्तियाँ, मन मेरी ही बस्ती क्या ?' किन्तु जिन कविताओं में उन्होंने अपने व्यक्तिगत सुख-दुख से ऊपर उठकर प्रकृति-दृश्यों के भावना-चित्र अंकित किये हैं,

वे अत्यन्त मधुर और कोमल हैं। **रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'**[1] (सन् १९१५—) में इसके विपरीत किसी गहरी अनुभूति या सूक्ष्म, कोमल भावना का प्रकाश नहीं है। उनकी कविता में पहले शारीरिक वासना और लालसा की स्थूल, आवेगमयी और अतिशयोक्ति-पूर्ण अभिव्यक्ति हुई। अब तक के छायावादी कवियों में नारी के प्रति एक मर्यादाशील समानता और आदर की भावनाएँ ही व्यक्त हुई थीं। उन्होंने नारी को सदा मानवी और प्रेयसी के रूप में ही देखा था, लेकिन अंचल ने नारी को केवल उपभोग्या स्त्री योनि के रूप में ही देखा। उनकी वासनाजन्य तृष्णा, लालसा और प्यास की भावना बहुत ऊपरी तल की है :

'एक पल के ही दरस में जग उठी तृष्णा अधर में,
जल रहा परितप्त अंगों में पिपासाकुल पुजारी'

उनके सारे वेदन- अन्तर्वेदन का पर्यवसान 'रति-सुख' में ही होता है। मधूलिका, अपराजिता के गीतों में इसी वासना की आवृत्ति-विवृत्ति हुई है। बाद को 'अंचल' ने भी अपनी 'क्षयी रोमान्स के प्रति अवांछनीय आसक्ति' को धिक्कारा और प्रगतिशील विचारों और भावनाओं को अभिव्यक्ति देने लगे। 'किरण-वेला' 'लाल-चूनर' आदि में उनकी प्रगतिशील कविताएँ संग्रहीत हैं, लेकिन यहाँ भी नारी के प्रति उनका दृष्टिकोण उतना ही संकीर्ण और अपमान-जनक है।

प्रसाद, निराला, पंत, महादेवी ने व्यक्ति के सुख-दुख, उल्लास-निराशा की अनुभूति-प्रवण और विषयि-प्रधान अभिव्यंजना करते हुए भी जिन नये मानव-मूल्यों की सृष्टि की थी, कविता का जिन नयी अर्थ-भूमियों पर प्रसार किया था और काव्य के अन्तःस्वर में मानववादी उदात्तता की जो गरिमा भर दी थी, अंचल तक आते-आते उन मानव-मूल्यों, अर्थ-भूमियों और अन्तःस्वर की उदात्तता का संपूर्ण विघटन

---

१. **अंचल के कविता संग्रह : मधूलिका, अपराजिता, किरण-वेला, करील, लाल-चूनर।**

हो गया, और छायावादी कविता का दायरा संकीर्णतर होता गया। छायावादी काव्य के उत्कर्ष और ह्रास की यह प्रक्रिया हिन्दी-कविता के विकास-क्रम की एक कड़ी है। इसी समय प्रगतिवादी विचारधारा राष्ट्रीय-चेतना का नया संस्कार करने लगी थी। पंत, निराला, नरेन्द्र शर्मा और स्वयं अंचल इस नई विचारधारा से प्रभावित होकर नये विचारों और शोषित-पीड़ित जनता की आकांक्षाओं को अपनी कविता में वाणी देने की ओर उन्मुख हुए। एक नये जीवनादर्श और नये मानव-मूल्यों की उद्भावना होने लगी। 'दिनकर' 'नवीन' और उदयशंकर भट्ट जैसे अन्य समर्थ कवियों में भी इस नयी मानववादी विचारधारा की प्रतिध्वनियाँ सुनाई देने लगीं। अनेक तरुण कवि प्रगतिशील भावनाओं की अभिव्यंजना करने लगे। लेकिन 'अज्ञेय' और कुछ दूसरे कवि, जिनका व्यक्तिवादी और आत्मकेन्द्रित मानस सामाजिक आकांक्षाओं के प्रति संवेदनशील होने में सर्वथा असमर्थ था, प्रयोगशीलता के नाम पर विघटन की इस प्रक्रिया को काव्य की भाषा और अभिव्यक्ति के प्रकार में भी घसीट लाये, जिससे प्रयोगवादी धारा की कविता अपनी प्रेषणीयता भी खो बैठी।

छायावाद-युग की समाप्ति के बाद उत्तर-छायावाद युग की प्रगतिशील और प्रयोगशील प्रवृत्तियों के विकास-क्रम का विवेचन करने से पहले उन तीन महत्वपूर्ण कवियों का उल्लेख कर देना भी ज़रूरी है, जो न संपूर्णतः छायावादी हैं, न प्रगतिवादी और न इतिवृत्तात्मक शैली के ही, परन्तु जो इन में से दो या तीनों धाराओं के सीमान्त छूते हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'[1] (सन् १८९७—) की कविता में जहाँ एक ओर राष्ट्रीय आन्दोलन और देशभक्ति से प्रभावित विविध सामाजिक भावनाएँ हैं, वहाँ दूसरी ओर रोमान्टिक भावों को आध्यात्मिक जामा पहनाने का प्रयास भी है। छायावादी कला-चेतना से पृथक्

---

१. नवीन जी के कविता-संग्रह : कुंकुम, अपलक, क्वासि।

मार्ग पर चलने की प्रारंभिक प्रवृत्ति पूरी तरह विकास नहीं कर सकी, उस पर दार्शनिकता का गहरा रंग चढ़ गया। 'कुंकुम' में संग्रहीत' राष्ट्रीय आन्दोलन, गाँधीवाद और प्रगतिवाद से प्रभावित गीतों में उन का व्यक्तिवाद 'दिनकर' की तरह प्रगति की इतिहास-चेतना का विश्वास-भरा गर्व-स्फीत स्वर लेकर प्रकट हुआ :

"मैं हूँ भारत के भविष्य का
मूर्तिमान विश्वास महान्
मैं हूँ अटल हिमांचल-सम थिर
मैं हूँ मूर्तिमान बलिदान

देश में तीव्र होते हुए वर्ग-संघर्ष, मज़दूर-आन्दोलन और प्रगतिवादी विचारधारा के प्रभाव में 'नवीन' जी का भाव-प्रवण कवि-हृदय फेंकी पत्तल से उठाकर जूठन खाते हुए इन्सान की दुर्दशा से मर्माहत और कुपित हो उठा और उन्होंने भी अन्य प्रगतिशील कवियों की तरह अपने कवि से मांग की :

कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ
जिससे उथल पुथल मच जाये,
एक हिलोर इधर से आये
एक हिलोर उधर से आये।

लेकिन इस प्रवृत्ति को 'नवीन' जी आगे नहीं ले जा सके, उनके श्रोता ऐसी नई 'तान' सुनने के प्रतीक्षाकुल ही बने रहे। 'अपलक' और 'क्वासी' की कविताओं में प्रेम की भावभूमि का दार्शनिक शृंगार करने का प्रयास है। 'तुम न आना अतिथि बन कर' या 'मेरा क्या काल-कलन' इस ढंग की प्रतिनिधि रचनाएँ हैं।

उदयशंकर भट्ट[1] (सन् १८९७—) देश के विभाजन से पहले तक

---

१. भट्ट जी के काव्य-ग्रन्थ : तक्षशिला, राका, विसर्जन, मानसी, युगदीप, यथार्थ और कल्पना, विजय-पथ, एकला चलो रे! राधा तथा विश्वामित्र गीति-नाट्य हैं।

हिन्दी-क्षेत्र से बाहर लाहौर में रहे, जिससे उनकी कविताओं की ओर आलोचकों का ध्यान कम गया। प्राचीन दर्शन और इतिहास के विद्वान् होने के कारण भट्टजी ने 'तक्षशिला के खंडहरों में प्राचीन भारतीय संस्कृति का स्वर सुनकर अपनी वाणी को प्रसारित किया।' फिर 'राका' और 'विसर्जन' में छायावाद से प्रभावित होकर उन्होंने वेदना, अभाव और निराशा के गीत भी गाये, यद्यपि निराशा का स्वर उनके सहज आस्थाशील और आत्म-विश्वासी हृदय के अनुकूल नहीं था। अतः जब प्रगतिवादी विचार-धारा हिन्दी-काव्य को प्रभावित करने लगी, उस समय भट्टजी की कविता ने भी नयी दिशा पकड़ी और उन्होंने 'मानसी' में विश्व के यथार्थ-दर्शन की अनुभूतिमय विवेचना करते हुए अपने अन्तिम उद्बोधनात्मक गीत में मांग की :

'समय के सभी साथ जीवन बदलते
समय को बदलता हुआ तू चला चल'

इसके बाद एक आशावादी की दृष्टि से प्रकृति और जीवन के अनेक दृश्यों और मार्मिक प्रसंगों को उन्होंने अगली रचनाओं में सरस अभिव्यक्ति दी। भट्टजी की शैली छायावाद के सीमान्त छूती-भर है, छायावादी नहीं है, यद्यपि भावना कहीं-कहीं स्वच्छन्दतावादी है। अभिव्यक्ति अधिकतर गोचर दृष्यस्तर की है, किन्तु कहीं-कहीं अप्रस्तुतों की भी योजना है और उत्प्रेक्षा और विरोधाभास की मात्रा भी पर्याप्त है। आशा, उत्साह, कर्म और जाग्रति का सन्देश उनकी कविताओं में बार-बार व्यक्त हुआ है, जिसमें प्रगतिशील कविता की अतिशयोक्ति-पूर्ण व्यंजना के पूरे दर्शन मिलते हैं :

जाग उठा हूँ, जाग उठा हूँ!
एक बार फिर मरण निगल कर,
सांस-सांस में—
धराकाश में, नये प्राण भर!
जाग उठा हूँ! जाग उठा हूँ!

रामधारीसिंह 'दिनकर'[1] (सन् १९०९—) सजग सामाजिक चेतना के भाव-प्रवण कवि हैं। उन्होंने जिस समय लिखना शुरू किया उस समय छायावादी कविता में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ मुखर हो उठी थीं, उसकी व्यापक सर्वजनीन सांस्कृतिक चेतना में वैयक्तिक निराशा और वेदना का स्वर प्रधान होता जा रहा था और कविता का श्रेय और प्रेय केवल कलावादी सौंदर्य-साधन में सीमित होता जा रहा था। इस समय एक ओर इस प्रकार की सौंदर्य-साधना और वैयक्तिक भावनाओं की अभिव्यक्ति का आकर्षण तो था ही किन्तु दूसरी ओर प्रगतिशील विचारों ने जिस नई सामाजिक चेतना को जन्म दिया था, उसका आकर्षण भी कम प्रबल न था! हृदय और बुद्धि को अपनी-अपनी ओर खींचने वाले इन दोनों आकर्षणों के परस्पर द्वन्द्व के बीच 'दिनकर' को अपनी कविता के लिए नया युगानुकूल मार्ग निकालना पड़ा। 'रसवन्ती' तक की कविताओं में उनके सौंदर्योपासक, एकान्त-प्रिय, यौवन की उमंगों से तरंगित मन और उनके हृदय के अतल में बहने वाली न्याय, मुक्ति और मानव-प्रगति के लिए संघर्ष करने वाली सामाजिक भावना में निरन्तर चलने वाले द्वन्द्व की कलात्मक विवृत्ति मिलती है। उनका व्यक्तित्व प्रयोगवादियों की तरह अपनी मध्यवर्गीय विवशताओं के आगे नतशिर होकर अपने कवि-गौरव का हनन नहीं होने देता। 'दिनकर' के आत्म-मन्थन में उनकी सामाजिक-भावना ही विजयी होती आयी है, और इसने उनकी अभिव्यक्ति में ऐसा प्रखर आवेग और प्रवाह पैदा किया है जो अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। जीवन की वर्तमान दैन्यता और कुरूपता के प्रति विद्रोह की भावना को तीव्र अभिव्यक्ति देने के लिए उन्होंने नये विराट् प्रतीकों, लाक्षणिकता-प्रधान वक्र-भंगिमा और भाषण-कला में प्रयुक्त

---

१. दिनकर जी के काव्य-ग्रन्थ : रेणुका, हुंकार, द्वन्द्व-गीत रसवन्ती, सामधेनी, धूप-छांह, कुरुक्षेत्र, चित्तौड़ का साका, धूप और धूआं, रश्मि-रथी।

होने वाली अतिशयोक्ति-पूर्ण भाषा का प्रयोग किया ।

'फेंकता हूँ लो तोड़ मरोड़ अरी निष्ठुरे ! बीन के तार,
उठा चाँदी का उज्ज्वल शंख फूँकता हूँ भैरव-हुँकार
नहीं जीते जी सकता देख विश्व में झुका तुम्हारा भाल
वेदना-मधु का भी कर पान आज उगलूँगा गरल कराल ।'

दीन बालकों का भूख और दूध के लिए चीत्कार सुनकर कवि दर्प से उठकर चल पड़ता है :

'हटो व्योम के मेघ पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं
दूध-दूध ओ वत्स, तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं ।'

इस प्रकार अपने मन की उमंगों और लालसाओं से संघर्ष करते और जन-कल्याण की कामना करते हुए 'दिनकर' ने हिन्दी की प्रगतिशील कविता को वर्तमान जीवन की कठोर यथार्थ-चेतना का आधार दिया । 'कुरुक्षेत्र' में 'दिनकर' की प्रतिभा का पूरा उन्मेष दिखाई दिया । महायुद्धों की विभीषिका से पीड़ित विश्व-जनता की व्यापक शान्ति-कामना इस महाकाव्य में प्रतिबिम्बित हुई है । 'दिनकर' ने एक युग-द्रष्टा कवि की तरह अतीत इतिहास से कुरुक्षेत्र का प्रसंग चुन कर इस युग की केन्द्रीय समस्या—युद्ध और शान्ति—का उद्‌घाटन किया है । महाभारत की समाप्ति पर विजेता धर्मराज युधिष्ठिर इतने भंयकर नरसंहार से क्षुब्ध होकर बाण-शैय्या पर लेटे पितामह भीष्म के पास अपने मन में उठने वाली शंकाओं का समाधान माँगने जाते हैं । महाभारत के 'शान्ति-पर्व' की भी यही कथा है, लेकिन 'दिनकर' ने उसे युगानुकूल अभिव्यक्ति देकर प्रगतिशील मानवता की शान्ति-भावना को और अधिक गहरा बनाया । 'कुरुक्षेत्र' केवल विचार-विनिमय का महाकाव्य है, उसमें दो व्यक्तियों के बीच मानव-समाज की विविध समस्याओं पर, विशेषकर युद्ध और शान्ति की समस्या पर, विचारों का आदान-प्रदान ही होता है, इसलिए वहाँ रूढ़ अर्थों में कार्य-व्यापार का विकास खोजना व्यर्थ है । विचारों का आदान-प्रदान भाषण-कला की उदात्त

भाव-संबलित तर्क पद्धति से नये प्रतीकों और चित्र-भाषा द्वारा मूर्त ढंग से होता है।

'रस सोखता है जो मही का भीमकाय वृक्ष
उसकी शिराएं तोड़ो, डालियाँ कतर दो।

शान्ति-स्थापन की समस्या पर धर्मराज की शंकाओं का समाधान करते हुए भीष्म अन्त में कहते हैं :

आशा के प्रदीप को जलाये चलो धर्मराज,
एक दिन होगी मुक्त भूमि रण भीति से,
भावना मनुष्य की न राग में रहेगी लिप्त,
सेवित रहेगा नहीं जीवन अनीति से;
हार से मनुष्य की न महिमा घटेगी और
तेज न बढ़ेगा किसी मानव का जीत से;
स्नेह-बलिदान होंगे पाप नरता के एक,
धरती मनुष्य की बनेगी स्वर्ग प्रीति से।

'दिनकर' कविता के इस मानववादी प्रगतिशील पथ पर आज भी पूरे उत्साह से अग्रसर हैं।

उत्तर छायावाद-युग

छायावादी-कविता के पूर्ण उन्मेष के काल में ही देश की राष्ट्रीय चेतना में एक नया मानवतावादी संस्कार होने लगा था। देश की स्वतंत्रता का लक्ष्य केवल अंग्रेज़ों की राजनीतिक पराधीनता से मुक्ति पाना भर है, या हर प्रकार के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक शोषण, भेदभाव और अन्यायपूर्ण वर्ग-संबंधों का अन्त करके समानता, न्याय और जनतंत्र के आधार पर एक नये शोषण-मुक्त समाज और एक नई मानवतावादी संस्कृति की स्थापना करना है—यह प्रश्न सभी लोक-चेता विचारकों को मथित करने लगा था। गाँधी जी के सत्य, अहिंसा और राम-राज्य के सिद्धान्तों में स्वतंत्र-भारत के भावी समाज की रूप-रेखा

स्पष्ट नहीं हुई थी। मार्क्स प्रवर्तित द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी दर्शन और सोवियत् रूस में पूँजीवाद का अंत करके एक नये साम्यवादी समाज की स्थापना ने इन लोक-चेता विचारकों को मनुष्य की सामूहिक मुक्ति के एक नये मानववादी जीवनादर्श से प्रेरित करना शुरू किया। सन् १९३४ के लगभग ही भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (जो भारत सरकार द्वारा अवैध घोषित कर दिये जाने पर सन् १९४२ तक गुप्त रूप से कार्य करती रही) और कांग्रेस-समाजवादी दल की स्थापना हो गई थी। इन दलों ने अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद की राजनीतिक-आर्थिक गुलामी से मुक्ति पाने के लक्ष्य के साथ-साथ भारतीय सामन्तवाद के अवशिष्ट चिन्हों से किसानों को और भारतीय पूँजीवाद से मज़दूरों को मुक्त करके एक शोषण-रहित समाजवादी जनतंत्र की स्थापना का लक्ष्य भी भारतीय जनता के सामने रखा। इस तत्त्ववाद और सामाजिक लक्ष्य में व्यक्ति-मानव और समष्टि-मानव के पूँजीवादकालीन दुर्निवार अन्तर्विरोध का प्रशमन किसी एक के दमन द्वारा नहीं बल्कि दोनों के हितों की परस्परिता और समन्विति द्वारा ही साध्य है। अर्थात् मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण खत्म करके एक वर्गहीन समाज सभी मनुष्यों को उन्नति और विकास के समान साधन जुटायेगा। व्यक्ति और समष्टि का अन्तर्विरोध मौलिक नहीं है, परिस्थिति-जन्य या और स्पष्टता से कहें तो वर्ग-समाज-जन्य है। इसलिए वर्गहीन समाज में अन्ततः व्यक्ति का हित समाज का हित होगा और समाज का हित व्यक्ति का हित होगा। ऐसे शोषण-मुक्त समाज की स्थापना आज संभव हो गई है। विश्व-पूँजीवाद ह्रासोन्मुखी और संकट-ग्रस्त है और अपनी आत्मरक्षा के लिए युद्ध की तैयारियाँ कर रहा है। ऐतिहासिक सत्य की इस चेतना ने भारतीय साहित्यकारों को भी नयी प्रेरणा दी। सन् १९३६ में 'भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ' की स्थापना हुई। प्रेमचन्द, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, जोश इलाहाबादी जैसे अग्रणी लेखकों और कवियों ने इस आन्दोलन का स्वागत ही नहीं किया, उसमें आगे बढ़कर भाग भी लिया।

हम पहले कह चुके हैं कि सन् १९३५-४० के काल में छायावादी-कविता में ह्रासोन्मुखी प्रवृत्तियाँ मुखरित हो उठी थीं। नये कवियों में व्यक्तिवादी चेतना व्यापक लोक-मंगल की दृष्टि और आशा और उल्लास की भावना छोड़कर आत्म-निष्ठ और निराशावादी होती जा रही थी। हम यह भी देख चुके हैं कि 'पंत', 'निराला', 'नवीन', 'दिनकर' आदि श्रेष्ठ कवियों में नये सामाजिक आदर्श से प्रेरित प्रगतिशील भावनाओं और विचारों की अभिव्यक्ति भी होने लगी थी। प्रगतिशील आन्दोलन ने इस नये उत्थान की प्रक्रिया को नयी स्फूर्ति और गति प्रदान की। उत्तर-छायावादी-युग में अन्य अनेक तरुण-कवि प्रगतिवाद-प्रेरित नये जीवनादर्श और जन-मंगल के उत्साह भरे गीत गाते हुए सामने आये। इनमें नरेन्द्र शर्मा तो थे ही, शिवमंगलसिंह सुमन, केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन, नागार्जुन, रांगेय राघव और रामदयाल पाण्डेय प्रमुख थे। अनेक छायावादी ढर्रे के तरुण कवियों—शम्भूनाथसिंह 'रसिक', विद्यावती 'कोकिल' आदि—में प्रगतिशील विचारों की अनुगूँज सुनायी दी। गाँधीवादी कवियों—सोहनलाल द्विवेदी, सुधीन्द्र आदि—ने भी नये विषयों पर कविताएँ लिखीं। यहाँ तक कि व्यक्ति-चेतना से आक्रान्त अनेक प्रयोगवादी कवि—गिरिजाकुमार माथुर, गजानन माधव 'मुक्तिबोध', नेमिचन्द जैन, भारतभूषण अग्रवाल, शमशेरबहादुर सिंह, प्रभाकर माचवे, रामविलास शर्मा आदि—भी प्रगतिशील धारा से अप्रभावित न रह सके। दूसरे महायुद्ध के पाँच-छै वर्षों के बीच हिन्दी में प्रगतिशील कविता का ही सर्वाधिक ज़ोर रहा। उस समय ऐसा लगता था कि इन महान् सामाजिक आदर्शों की प्रेरणा हिन्दी-काव्य में एक ऐसा युगान्तर उपस्थित कर रही है जिसका पूर्ण उन्मेष छायावाद-युग की तरह ही अनेक महान् प्रतिभाओं के प्रस्फुटन से महिमाशाली बनेगा। लेकिन तरुण प्रगतिशील कवि स्वतन्त्र रूप से किसी नये काव्यादर्श का अभी सम्यक् विकास भी न कर पाये थे कि उन्होंने राजनीतिक दलबन्दी की मतवादी और साम्प्रदायिक संकीर्णताओं में पड़कर अपनी काव्य-प्रतिभा का स्वयं ही हनन कर डाला।

इस बीच, और विशेषकर स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद, राजनीतिक दलों की स्पर्धा और परस्पर-विरोध ने राष्ट्रीय-जीवन की स्वाधीनता-संग्राम के दिनों वाली एकता को विच्छिन्न कर दिया था, जिससे विभिन्न राजनीतिक दलों में बंटे हुए इन सभी कवियों का राष्ट्रीय-जीवन से एक प्रकार से विच्छेद-सा हो गया। भावना की समग्रता पुनः विशृंखलित हो गई और कवि अपने दलगत विचारों की अनुभूतिहीन विवृत्ति करने लगे। इस बीच कोई ऐसी महान् प्रतिभा का नया कवि नहीं पैदा हुआ जो इन दलगत संकीर्णताओं के घेरे को तोड़कर समग्र-भाव से युग-जीवन की नयी प्रगतिशील चेतना और सत्य को सार्वदेशिक और सर्वजनीन स्वर में कलात्मक अभिव्यक्ति देता। युग-सत्य नहीं बदला है, केवल उसका बोध तत्काल मलिन और खंडित हो गया है। इसके लिये विपरीत परिस्थितियों से अधिक इन तरुण प्रगतिशील कवियों की असामर्थ्य और असंवेदनशीलता ही उत्तरदायी है, जो उन्हें सत्य की उपलब्धि नहीं होने देती, और संकीर्ण पथों पर भटका देती है।

उत्तर-छायावाद-युग की दूसरी धारा हिन्दी की वह कविता है, जिसमें व्यक्तिवाद की परिणति घोर अहंवादी, स्वार्थप्रेरित, असामाजिक, उच्छृंखल और असन्तुलित मनोवृत्ति के रूप में हुई है। इस कविता का शायद अभी तक अन्तिम रूप से नामकरण नहीं हो पाया है, इसीलिए प्रयोगवादी, प्रतीकवादी, प्रपद्यवादी या नई कविता—इन अनेक नामों से इसे पुकारा जाता है। प्रथम-युद्धोत्तर-कालीन पाश्चात्य कविता में जिस तरह का व्यक्तिवाद अनेक साहित्यिक वादों और प्रवादों की दुहाई देता हुआ व्यक्त हुआ और उसने काव्य की भाषा, वस्तु-विन्यास और व्यंजना में जैसे विचित्र बौद्धिक प्रयोग किए, कुछ उससे मिलती-जुलती या प्रभावित हिन्दी की तथाकथित प्रयोगवादी कविता भी है। इस कविता में रागात्मक मार्ग से नये अर्थ की सृष्टि करके मानव-भावना का संस्कार और चेतना का विस्तार करने का प्रयास नहीं है, बल्कि मनुष्य के जीवन-बोध को ही खण्डित और विकृत बनाना इसका सहज उद्देश्य दीखता

है। प्रयोगशीलता का आडम्बर तो केवल समाजद्रोही भावनाओं और जीवन के प्रति घोर अनास्था, कुंठा और विद्रूपात्मक उद्गारों को एक दुरूह संकेतात्मक भाषा, अस्वाभाविक अलंकार-योजना और अहंवादी और बहुधा ओछेतल की वचन-भंगिमा में छिपाने का उपक्रम मात्र है। 'अज्ञेय' और उनके समानधर्मा दूसरे मध्यवर्गी बुद्धिजीवी अपनी व्यक्ति-चेतना से इतने आक्रान्त रहे हैं कि वे सामाजिक-जीवन के साथ किसी प्रकार के सामंजस्य की कल्पना ही नहीं कर सकते। इस एकान्तिक अहं-निष्ठा ने इस वर्ग के कवियों को अत्यन्त 'सेल्फ़ कान्शस' और तुनुक-मिज़ाज बना दिया है और चूंकि समाज के बीच रहकर ही वे जीवन-यापन करते हैं, इसलिए उनकी समाजद्रोही भावनाएँ और जान-बूझकर साहित्य और जीवन के मूल्यों का विघटन करने की चेष्टाएँ लोकचेता आलोचकों और सहृदय पाठकों की कड़ी निन्दा की भाजन बनती आई हैं। इन कवियों की कविताओं में बहुधा इन निन्दाओं और आलोचनाओं के संकेत रूप में उत्तर दिए जाते रहे हैं और अपनी असमर्थताओं और दुर्बलताओं का औचित्य सिद्ध किया जाता रहा है। 'अज्ञेय' की कविताओं में अपराधी मनोवृत्ति से की गई ऐसी आत्मरक्षात्मक अभि-व्यक्तियों की बहुलता है। साधारणतया प्रयोगवादी कविताओं में एक दयनीय प्रकार की झुंझलाहट, खीझ, कुंठा, किशोर औद्धत्य और हीन भाव ही व्यक्त हुआ है, जो कवि के व्यक्तित्व को प्रमाणित करने का नहीं, खण्डित करने का मार्ग है। महान् कविता का जन्म सारे संसार को, समाज को, जीवन के प्रगतिशील आदर्शों और नैतिक भावनाओं को एक उद्दण्ड और छिछोरे बालक की तरह मुँह बिचकाने से नहीं होता। सामाजिक बन्धनों के प्रति व्यक्तिवादी प्रतिवाद का यह तरीक़ा स्वाँग बनकर ही रह ज़ाता है। आजकल बड़े संगठित रूप में प्रयोगवादी कविता को हिन्दी की नई और श्रेष्ठतर कविता सिद्ध करने का प्रयत्न चल रहा है। तर्क दिए जाते हैं कि उसके आलोचकों में या तो इस कविता को समझने की सामर्थ्य नहीं है या फिर वे अपने रूढ़िपन्थी दृष्टिकोण के

कारण इस नये उत्थान का स्वागत नहीं कर पाते। छायावाद के आरम्भ में आचार्य शुक्ल भी ऐसा नहीं कर पाए थे। इतिहास की पुनरावृत्ति ही रही है। लेकिन इन कवियों की आत्म-प्रवंचना और उनके इतिहास-ज्ञान की शून्यता स्वतः सिद्ध है। 'परिमल' और 'पल्लव' की कविताओं की सांस्कृतिक चेतना और व्यापक सामाजिक दृष्टि में उच्चतर जीवन-मूल्यों के प्रति एक सहज आस्था थी। उसमें मनुष्य के प्रेम और सौन्दर्य की पुनीत भावनाओं की खिल्ली नहीं उड़ाई गयी थी, न मनुष्य की पशुता को गौरवान्वित किया गया था, जिस तरह अज्ञेय ने अपनी कविता 'माहीवाल से' में किया है :

'क्रौंच बैठा हो कभी वल्मीक पर
तो मत समझ—
वह अनुष्टुप बाँचता है संगिनी के स्मरण के—
जान ले वह दीमकों की टोह में है।'

यह ठीक है कि प्रयोगवादी कविता में यत्र-तत्र अच्छे भाषा-प्रयोग भी मिलते हैं; लेकिन उसका अन्तरंग इतना खोखला है कि ऊपर की सारी चमक-दमक और पालिश पाठक के मन में भी व्यर्थता का भाव ही जगाती है।

हिन्दी-कविता के समग्र इतिहास को दृष्टि में रखकर हम अनिवार्यतः इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि प्रयोगवादी कविता कोई नया उत्थान नहीं है; बल्कि छायावादी कविता के ह्रास का ही विकृत रूप है, और हिन्दी की विशाल काव्य-धारा में प्रयोगवादी कवियों की देन अभी बूँद के समान ही है।

स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद अनेक नए कवि पुनः प्रगतिशील सामाजिक भावनाओं को अभिव्यक्ति देने की दिशा में आगे बढ़े हैं। वे सच्चे अर्थों में प्रयोगशील भी हैं; क्योंकि वे अपने नये जीवन-बोध की अनुभूति को मूर्त्त अभिव्यक्ति देने के लिए भाषा, शैली और छन्दों में नये प्रयोग भी कर रहे हैं, इनमें भवानी प्रसाद मिश्र, नीरज, रंग, शील,

वीरेन्द्र मिश्र, ठाकुर प्रसादसिंह, गोपालकृष्ण कौल, शेष, सर्वेश्वरदयाल सक्सेना, नामवरसिंह, रमानाथ अवस्थी, देवराज 'दिनेश' और 'त्यागी' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-काव्य के नये उत्थान और उसके द्वारा नये जीवन-मूल्यों के निर्माण की आशा, सामूहिक मुक्ति और विकास के आदर्श को एक व्यापक सर्वजनीन सांस्कृतिक चेतना के रूप में अपनी आत्मा का अनुभूत सत्य बनाकर वाणी देने पर ही निर्भर करती है। यह कार्य भविष्य का कोई युगद्रष्टा कवि ही कर सकेगा। किन्तु मनुष्य की सामूहिक प्रगति में विश्वास लेकर चलने वाले इन तरुण कवियों का प्रयास उस आगामी उत्थान की ही पीठिका तैयार कर रहा है।

तीन

नाटक का विकास

हिन्दी में नाट्य-साहित्य का विकास साधारणतया भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रथम मौलिक प्रहसन 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' (सन् १८७३ ई०) से माना जाता है। किन्तु इधर कुछ इतिहासकारों और आलोचकों ने हिन्दी-साहित्य की इतिहास-निरूपण संबंधी उन प्रचलित भ्रान्तियों और असंगतियों से प्रेरणा लेकर, जिनका विवेचन हम इस पुस्तक की 'प्रस्तावना' में कर चुके हैं, ब्रज, अवधी और मैथिली आदि भाषाओं की प्राचीन नाट्य-परम्पराओं को भी हिन्दी-नाट्य-परम्परा के अन्तर्गत सम्मिलित करने का प्रयास किया है। ब्रज, अवधी और मैथिली में पन्द्रहवी-सोलहवीं शताब्दी से ही नाट्य-रचना और लोक-रंगमंच का विकास हो गया था। बल्लभ-सम्प्रदाय के प्रभाव में, अथवा संभवतः स्वयं बल्लभाचार्य (सन् १४८८-१५३० ई०) के नियोजन से ब्रज भाषा-क्षेत्र में 'रासलीला' की गीति-नाट्य परम्परा का सूत्रपात हुआ था। अवधी के क्षेत्र में, कुछ लोगों का अनुमान है कि, स्वयं गोस्वामी तुलसीदास (सन् १५३२-१६२३ ई०) ने अपने 'रामचरितमानस' के आधार पर 'रामलीला' का श्रीगणेश किया। मैथिली में विद्यापति (१५ शताब्दी ई० पूर्वार्ध) ने 'गोरक्ष-विजय नाटक' लिखकर जिस नाट्य-परम्परा

का सूत्रपात किया वह चार सौ वर्षों तक मिथिला, आसाम और नैपाल में चलती रही। इस परम्परा में लगभग ३५ नाटककार हुए जिन्होंने १०६ से ऊपर नाटकों की रचना की। मिथिला में इन नाटकों को 'कीर्तनिया नाटक' कहते हैं, किन्तु आसाम में 'अंकिया नाट' कह कर पुकारते हैं। संस्कृत नाट्य- रचना और वैष्णव काव्य-धारा की प्रणालियों के समन्वय से यह नाट्य-परम्परा विकसित हुई। प्रारंभ में मिश्रित शैली से काम लियाजाता था, अर्थात् गीत मैथिली में और गद्य-संवाद और संकेत संस्कृत या प्राकृत भाषा में रहते थे। लेकिन धीरे-धीरे नाटकों के गद्य और पद्य दोनों भाग शुद्ध मैथिली भाषा में लिखे जाने लगे। श्री मद्‌भागवत, हरिवंश पुराण और महाभारत में आई विविध कथाओं से इन नाटकों के कथानक लिए गये थे। 'कीर्तनिया नाटकों' की तुलना अंग्रेज़ी के 'ओपरा' से की जा सकती है। ब्रज, अवधी और मैथिली की इस समृद्ध नाट्य और रंगमंच परम्परा का हिन्दी-साहित्य के इतिहासों में उल्लेख नहीं मिलता। इस असंगति को दूर करने के लिये प्राचीन नाट्य-साहित्य के कुछ अध्येताओं ने, विशेष रूप से नाटककार श्री जगदीश चन्द्र माथुर ने, यह सुझाया है कि जैसे हिन्दी-क्षेत्र की अन्य भाषाओं के प्राचीन काव्य-साहित्य को 'हिन्दी-साहित्य' के अन्तर्गत ही परिगणित किया जाता है, उसी तरह उनके नाट्य-साहित्य को भी हिन्दी नाट्य-साहित्य के अर्न्गत ही सम्मिलित किया जाय। ऐसा करने से, भारतेन्दु नहीं, विद्यापति ही हिन्दी के प्रथम नाटककार ठहरेंगे, और हिन्दी-नाटकों की एक सुदीर्घ परम्परा के हम उत्तराधिकारी बन जायेंगे।

इस सुझाव के पीछे भावना चाहे जितनी उदार क्यों न हो, किन्तु दृष्टि ऐतिहासिक नहीं है। प्रस्तावना में हम हिन्दी-साहित्य की इतिहास-सम्बन्धी जिन भ्रान्तियों का विवेचन कर आये हैं, यह सुझाव इन भ्रान्तियों के निराकरण में सहायक नहीं होगा, बल्कि उन्हें और पुष्ट करेगा। रामलीला, रासलीला या कीर्तनिया नाटकों की परम्पराएँ निश्चय ही अवधी, ब्रज और मैथिली भाषा-साहित्यों की नाटय और

रंग-मंच परम्पराएँ हैं, हिन्दी (खड़ी-बोली) की नहीं। उसी प्रकार जोधपुर-नरेश महाराज जसवन्तसिंह द्वारा किया हुआ संस्कृत-नाटक 'प्रबोध-चन्द्रोदय' का पद्यानुवाद (सन् १६४३ ई० के लगभग) और रीवाँ नरेश विश्वनाथसिंह जू का लिखा मौलिक-पद्य-नाटक 'आनन्द रघुनन्दन नाटक' (सन् १७०० ई० के लगभग), या भारतेन्दु के पिता गोपालचन्द्र द्वारा प्रणीत 'नहुष' नाटक (सन् १८४१ ई०) ब्रजभाषा के नाटक हैं, हिन्दी के नहीं। अन्त में लखनऊ के नवाब वाजिदअली शाह के दरबार में उर्दू-कवि अमानत द्वारा रचे और खेले गये (सन् १८५३ ई०) नाटक 'इन्दर-सभा' को भी हम हिन्दी-नाट्य परम्परा के आदि में रखना ग़लत समझते हैं क्योंकि वह उर्दू भाषा का नाटक था, हिन्दी-नाटक नहीं। इस प्रकार हम पुनः इसी निर्णय पर पहुँचते हैं कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हिन्दी में नाटक-साहित्य के प्रवर्त्तक हैं और उनका प्रहसन 'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' ही हिन्दी की प्रथम मौलिक नाट्य-रचना है। राजा लक्ष्मणसिंह ने कालीदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तल' का हिन्दी-अनुवाद सन् १८६१ ई० में ही प्रकाशित किया था और स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने अठारह वर्ष की आयु में (सन् १८६८ ई०) बंगला के नाटक 'विद्यासुन्दर' का हिन्दी रूपान्तर इसी नाम से प्रकाशित किया था। लेकिन हिन्दी में मौलिक रचना का सूत्र-पात इसके पांच वर्ष बाद सन् १८७३ ई० में ही हुआ।

जिस समय भारतेन्दु ने हिंदी में नाट्य-रचना का प्रारंभ किया, उस समय उत्तर-भारत की किसी भी भाषा या प्रदेश में आधुनिक ढंग के अव्यवसायिक रंग-मंच का विकास नहीं हुआ था। अंग्रेजों ने उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही, या उसके भी कुछ पहले से बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, पटना जैसे बड़े-बड़े केन्द्रों में अपने मनोरंजन के लिए अंग्रेजी नाटकों के अभिनय की प्रथा चला रखी थी। उन्होंने कालीदास के शकुन्तला का भी अभिनय किया था। इसने पढ़े-लिखे भारतीयों का ध्यान भी नाट्य-कला की ओर आकृष्ट किया। बँगला में साहित्यिक-नाटकों

की रचना शुरू हुई, जिनमें सामयिक समस्याओं की तीव्र आलोचना और देश-प्रेम की भावना भी व्यक्त होने लगी। भारतेन्दु और उनके समकालीन लेखकों पर बँगला-नाटकों का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा। उधर पारसी कम्पनियों की लोक-प्रियता से यह सिद्ध हो गया था कि नाटक-साहित्य और रंग-मंच के विकास के लिए लोक-रुचि और वातावरण अनुकूल है। इसलिए राष्ट्रीय-जागरण की प्रातः वेला में जब भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और उनके सहयोगी लेखक देश को अपनी दुरवस्था के प्रति सचेत करने के उद्देश्य से गद्य-साहित्य की रचना की ओर प्रवृत्त हुए तो अन्य रूपों के साथ-साथ गद्य-साहित्य का यह रूप ही उन्हें सर्व-सुलभ लगा। नाटक एक ऐसा माध्यम था जिसके द्वारा वे शिष्ट और साधारण जन-समाज के अधिक से अधिक श्रोताओं और दर्शकों तक पहुँच सकते थे। इस प्रकार हिन्दी में सुरुचिपूर्ण साहित्यिक नाटकों का जन्म हुआ।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र[1] (सन् १८५०-८५ ई०) का हिन्दी-साहित्य के इतिहास में वही स्थान है जो रूसी-साहित्य में पुश्किन को प्राप्त है। वह हिन्दी गद्य-साहित्य के पितामह हैं। उन्होंने अपनी स्वल्पायु में ही हिन्दी-गद्य का स्वरूप-निर्माण तो किया ही, नाटक, इतिहास, निबन्ध,

---

१. भारतेन्दु के नाटक: (मौलिक नाटक)—प्रेम जोगिनी (१८७५ ई०), चन्द्रावली (१८७६), भारत जननी (१८७७), भारत-दुर्दशा (१८८०), नीलदेवी (१८८१), सती प्रताप (१८८३)।

(मौलिक प्रहसन)—'वैदिकी हिंसा-हिंसा न भवति' (१८७३), 'विषय विषमौषधम्' (१८७७), अन्धेर नगरी (१८८१ ई०)।

(रूपान्तरित नाटक)—विद्या-सुन्दर (१८६८) सत्य हरिश्चन्द्र (१८७४)।

(अनूदित नाटक)—पाखण्ड-विडम्बन, धनंजय विजय, कर्पूर मंजरी, मुद्राराक्षस और दुर्लभ-बन्धु।

जीवनी, उपन्यास आदि लिखकर हिन्दी में मौलिक रूप से नये साहित्य-रूपों का विकास भी किया। भारतेन्दु ने संस्कृत, अंग्रेज़ी और बँगला-भाषा के नाटकों का विस्तृत अध्ययन किया था और तत्कालीन रंग-मंच की आवश्यकताओं से भी वे पूर्णतः परिचित थे।

उनके रचे नाटकों में सामाजिक, राजनीतिक, पौराणिक और प्रेम-प्रधान सभी प्रकार के नाटक हैं। उन दिनों, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, देश की प्रबुद्ध-चेतना मुख्यतः सामाजिक कुरीतियों के प्रति विद्रोही रूप धारण करके व्यक्त हो रही थी। समाज-सुधार, स्त्री-स्वातन्त्र्य और देश-प्रेम आदि प्रश्नों को लेकर आन्दोलन चल निकले थे। भारतेन्दु या उनकी पीढ़ी के लेखकों में प्राचीन संस्कृति के प्रति अवज्ञा का भाव लेश-मात्र के लिए भी न था, बल्कि प्राचीन संस्कृति की महान् और उदात्त परम्पराओं से उन्होंने तत्कालीन सामाजिक कुरीतियों और पाखण्डों पर और भी निर्मम प्रहार करने के लिए प्रेरणा ही ली थी। इसीलिए भारतेन्दु की कला में अतीत के प्रति श्रद्धा के साथ वर्तमान की चेतना का मधुर और सुन्दर समन्वय हुआ है।

भारतेन्दु ने 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में भगवान् रामचन्द्र के पूर्वज राजा हरिश्चन्द्र की सत्य-निष्ठा, आत्मिक बल तथा चारित्रिक दृढ़ता के अनुपम आख्यान को अत्यन्त कलात्मक रीति से नाटकीय रूप दिया है। वीर और करुणा-रस से ओत-प्रोत इस नाटक में राज्य-धर्म और दाम्पत्य-धर्म के आदर्शों के साथ-साथ सत्य और न्याय के चरम मानवीय प्रतिमान उपस्थित किये हैं। चित्रण यथावसर इतना कारुणिक है कि, विशेषकर रोहिताश्व की मृत्यु पर महारानी शैव्या का विलाप सुनकर हृदय विदीर्ण होने लगता है।

भारतेन्दु का 'नीलदेवी' एक स्त्रियोपयोगी ऐतिहासिक नाटक है जिसमें उन्हें निर्भीकता, सतीत्व तथा देश-प्रेम की शिक्षा दी गई है।

'भारत-दुर्दशा' में भारतेन्दु ने कुरीतियों और दुर्गुणों के पंक में फँसे देश की शोचनीय अवस्था का अत्यन्त मार्मिक नाटकीय चित्रण

किया है तथा उसे सुधारकर पुनः प्राचीन गौरव के उच्च शिखर तक पहुँचाने का सन्देश दिया है।

'चन्द्रावली' के रूप में भारतेन्दु ने प्रेम, विरह और मिलन की कहानी लेकर एक काव्य-प्रधान नाटिका की रचना की है। भारतेन्दु ने यद्यपि प्राचीन नाट्य-परम्परा का पालन किया है, फिर भी उनके नाटकों में संस्कृत नाटकों की तरह प्रकृति-दृश्यों का समावेश नहीं है। इसका कारण सम्भवतः तत्कालीन रंगमंच की लोक-परम्परा है, जिसकी सादगी प्रकृति-दृश्यों की जटिल योजना करने में असमर्थ थी।

भारतेन्दु से प्रेरणा लेकर उनकी पीढ़ी के अनेक लेखकों ने ऐसे नाटकों की रचना की जो रंगमंच पर खेले जा सकते थे। **श्रीनिवास दास** ने 'रणधीर और प्रेम-मोहिनी', 'तप्ता-संवरण' और 'संयोगिता-स्वयंवर' नाटक लिखे। **राधाकृष्णदास** ने 'दुःखिनी बाला', 'पद्मावती', 'धर्मालय' और 'महाराणा प्रताप' नाटक लिखे। **किशोरीलाल गोस्वामी** ने 'मयंक-मंजरी' और 'नाट्य-सम्भव' नाटक लिखे। इनके अतिरिक्त **दामोदर शास्त्री** ने 'रामलीला', **देवकीनन्दन त्रिपाठी** ने 'सीता-हरण', 'रुक्मिणी-हरण', ''रामलील', 'कंस-वध', 'बाल-विवाह' आदि, **खड्गबहादुरलाल** ने 'भारत-ललना', 'कल्प-वृक्ष', **अम्बिकादत्त व्यास** ने 'ललिता नाटिका', **बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन'** ने 'भारत-सौभाग्य', **बलदेव मिश्र** ने 'मीराबाई', 'नन्द-विदा', **तोताराम वर्मा** ने 'विवाह-विडम्बन नाटक' और **प्रताप नारायण मिश्र** ने 'भारत-दुर्दशा-रूपक', 'कलि कौतुक-रूपक' आदि नाटकों की रचना की। इस संक्षिप्त सूची से ही स्पष्ट है कि हिन्दी के प्रारम्भ काल में भारतेन्दु की पीढ़ी के लेखकों ने देश में धर्म-सुधार, समाज-सुधार और देश-प्रेम की भावना का व्यापक प्रसार करने के लिए कितनी लगन और एकनिष्ठा से हिन्दी में नाट्य-साहित्य की रचना में योग दिया। इसमें सन्देह नहीं कि वे नाटक उपदेशात्मक अधिक थे और उनमें कलात्मक तत्त्व गौण थे, जिससे भारतेन्दु के नाटकों

के अतिरिक्त आज उनका साहित्यिक मूल्य शेष नहीं रह गया, फिर भी उन्होंने राष्ट्रीय जागरण की प्रथम चेतना को सम्यक् अभिव्यक्ति देने और तत्कालीन परिस्थितियों और समस्याओं को यथार्थ रीति से साहित्य में प्रतिबिम्बित करने की अत्यन्त शुभ प्रवृत्ति दिखाई थी।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र स्वभाव से ही विनोदी तथा परिहासप्रिय-व्यक्ति थे। वस्तुतः उनकी पीढ़ी के सभी लेखकों में एक अद्‌भुत ज़िन्दा-दिली मिलती है। इसका कारण सम्भवतः यह है कि उस समय तक देश के परम्परागत सामाजिक जीवन से उन लेखकों का सम्पर्क अत्यन्त गहरा बना हुआ था। वे रूढ़ प्रथाओं और अन्धविश्वासों पर आक्रमण करते समय भी अपने को सामान्य जन-जीवन से अलग और कटा हुआ नहीं पाते थे। इस ज़िन्दादिली का पूरा प्रभाव भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के लेखकों द्वारा रचे गए प्रहसनों में लक्षित होता है। तत्कालीन जीवन की अन्धविश्वासग्रसित कूपमण्डूकता और अवास्तविकता का पर्दाफ़ाश करने के लिए प्रहसन सबसे तीखे अस्त्र साबित हुए, क्योंकि उनमें कुरीतियों पर खुलकर व्यंग्य-वर्षा की जा सकती थी। सबसे पहले **भारतेन्दु** ने ही सन् १८७३ में 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाम से एक प्रहसन लिखा था जिसमें उन्होंने धार्मिक पाखण्डों तथा अनाचारों की खिल्ली उड़ाई थी कि किस प्रकार पूजा-तपस्या की आड़ में भक्त-गण माँस-मदिरा उड़ाते हैं। सन् १८८१ में उनका तीसरा प्रहसन 'अन्धेर नगरी' निकला। इसने सामाजिक कुरीतियों पर आक्रमण करने का एक नया द्वार खोल दिया। **बालकृष्ण भट्ट** ने वेश्यावृत्ति और नशे के दुष्परिणामों का उद्‌घाटन करते हुए सन् १८७७ में दो प्रहसन लिखे—'शिक्षादान' और 'जैसा काम वैसा परिणाम'। **देवकीनन्दन त्रिपाठी** ने 'रक्षाबन्धन', 'एक-एक के तीन-तीन', 'स्त्री-चरित्र', 'वेश्याविलास' आदि प्रहसन लिखे जो विशेष रूप से लोकप्रिय हुए। **राधाचरण गोस्वामी** ने 'लोग देखें तमाशे', 'तन मन धन श्री गोसाईं जी के अर्पण' और 'बूढ़े मुँह मुहासे' आदि प्रहसन लिखे। राधाचरण गोस्वामी ने समाज के सभी

अंगों की कटु आलोचना की है और अपने अन्तिम प्रहसन में हिन्दू-मुसलमान किसानों की एकता और जमींदार के प्रति उनके विद्रोह को भी चित्रित किया है। वर्ग-संघर्ष की इतनी स्पष्ट चेतना उस प्रारम्भिक काल के लेखकों में अन्यत्र नहीं मिलती।

राष्ट्रीय जागरण के इस प्रारम्भिक काल के लेखकों का ध्यान अनुवाद की ओर भी गया और संस्कृत, बंगला तथा अंग्रेज़ी से अनेक नाटकों के अनुवाद किये गए। स्वयं **भारतेन्दु** ने संस्कृत के 'कर्पूर मंजरी', 'पाखंड-विडम्बन', 'धनंजय-विजय' और 'मुद्राराक्षस' आदि नाटकों का अनुवाद किया। **लाला सीताराम** ने 'उत्तररामचरित', 'मालती-माधव', 'मालविकाग्निमित्र', 'मृच्छकटिक', 'नागानन्द' आदि के अत्यन्त सरस और सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किये। इनके अतिरिक्त **बालमुकुन्द गुप्त** ने 'रत्नावली' और **ज्वालाप्रसाद मिश्र** ने 'वेणी-संहार' का अनुवाद किया। **तोताराम वर्मा** ने अंग्रेज़ी से ऐडिसन के नाटक 'केटो' का अनुवाद 'केटो वृत्तान्त' के नाम से किया और इसके पश्चात् शेक्सपियर के नाटकों के अनुवाद 'वेनिस नगर का व्यापारी' (Merchant of Venice), 'मन-भावन' (As You Like It), 'प्रेमलीला' (Romeo and Juliet) और 'साहसेन्द्र साहस' (Macbeth) नाम से निकले। बंगाली के भी अनेक नाटकों के अनुवाद हिन्दी में किये गए जिनमें केवल 'पद्मावती', 'वीर नारी', 'कृष्णाकुमारी', 'सती नाटक', 'दीप-निर्वाण' और 'अश्रुमती नाटक' ही उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त कतिपय मराठी नाटकों के भी अनुवाद किये गए। कहने का तात्पर्य यह है कि भारतेन्दु की पीढ़ी के लेखकों ने साहित्य के अन्य क्षेत्रों की ही तरह नाट्य-साहित्य के निर्माण और संग्रह में जैसी क्रियाशीलता का परिचय दिया वह अभूतपूर्व ही नहीं अद्भुत भी थी और अपने कर्तव्यों के प्रति उनकी जागरूकता का यह ज्वलन्त प्रमाण है।

भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के नाटककारों के समय में ही पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों का रिवाज चल पड़ा था। कुछ कम्पनियाँ उनसे

पहले से चली आ रही थीं। इन कम्पनियों द्वारा जो नाटक खेले जाते थे उनका उद्देश्य सस्ते और अश्लील मनोरंजन द्वारा अधिक-से-अधिक पैसा कमाना था। रंगमंच की दुनिया में पूँजीवाद ने कदम रख दिया था। नाटक को कला और सामाजिक प्रयोजन से च्युत करके मुनाफ़ा कमाने की मनोवृत्ति ही प्रधान बन बैठी थी। इसका दुष्प्रभाव लोक-नाट्य के रूपों पर भी पड़ने लगा था और वहाँ भी अश्लील गानों और चटक-मटक, हाव-भाव और ऐयारी के दृश्य उपस्थित करके जन-साधारण की रुचियों को विकृत और कुत्सित बनाने की चेतन-अचेतन चेष्टाएँ शुरू हो गई थीं। भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के लेखकों को इस प्रवृत्ति से भी संघर्ष करना पड़ा, यद्यपि इसमें वे सर्वथा सफल हो सके हों, यह नहीं कहा जा सकता। पारसी थियेट्रिकल कम्पनियों को अगर वास्तव में उखाड़ा तो सन् १६३० के पश्चात् फिल्म-व्यवसाय ने, जिसने और बड़े पैमाने पर मुनाफ़ा कमाने के लिए आधुनिक विज्ञान और टेकनीक की सफलताओं का भरपूर उपयोग करके पारसी-कम्पनियों के मनोरंजन-आयोजन को नगण्य बना दिया।

भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के नाटककारों के बाद जो पीढ़ी आई उसे परम्परागत रंगमंच भी उपलब्ध न हो सका। इस बीच लगातार मध्यवर्ग की वृद्धि के कारण लोक-जीवन से लेखकों का सहज सम्बन्ध टूटता गया और व्यवधान की खाई धीरे-धीरे बढ़ती गई। भारतेन्दु के बाद नाट्य-गगन में जयशंकरप्रसाद के उदय तक पण्डित बदरीनाथ भट्ट के अतिरिक्त और कोई प्रतिभाशाली लेखक उत्पन्न न हुआ, किन्तु जब जयशंकरप्रसाद ने नाट्य-रचना शुरू की तो उस समय जीवन की परिस्थितिया, नाटक के श्रोता-दर्शक और रंगमंच का स्वरूप सब-कुछ आमूल बदल चुके थे। फलतः जयशंकरप्रसाद को अपने लिए नई लीक बनानी पड़ी।

भारतेन्दु-पीढ़ी और जयशंकर प्रसाद के अन्तकाल में यों नाटक कम नहीं लिखे गए, लेकिन उनमें प्रतिभाशाली नाटककारों का अभाव था। **नारायणप्रसाद 'बेताब', आग़ा हश्र काश्मीरी, हरिकृष्ण 'जौहर',**

तुलसीदत्त 'शैदा', आदि ने जो नाटक लिखे वे पारसी कम्पनियों के रंग-मंच को ध्यान में रखकर ही लिखे, जिससे उन्होंने क्लिष्ट उर्दू से सरल बोल-चाल की भाषा का प्रयोग रंगमंच पर चाहे करवा लिया हो, लेकिन मौलिक नाट्य-साहित्य के विकास में उनका विशेष स्थान नहीं हो सकता। भारतेन्दु से बाद के और प्रसाद से पूर्व के नाटककारों में केवल दो-चार नाम ही उल्लेखनीय हैं, जिन्होंने मौलिक नाटक लिखने की प्रवृत्ति दिखाई। इनमें **पं० बदरीनाथ भट्ट** के 'कुरु-वन-दहन' (१६१२ ई०), 'दुर्गावती' तथा 'चन्द्रगुप्त', **पं० माधव शुक्ल** का 'महाभारत' (१६१५ ई०), **मिश्रबन्धु** का 'नेत्रोन्मीलन', **लोचन शर्मा पाण्डेय** का 'प्रेम-प्रशंसा' (१६१४ ई०) **आनन्दप्रसाद खत्री** का 'संसार-स्वप्न' (१६१३ ई०) आदि नाटक ऐसे हैं जिनका आज भी साहित्यिक मूल्य बाक़ी है।

इन नाटकों के अतिरिक्त इस पीढ़ी के लेखकों ने कतिपय प्रहसनात्मक नाटक भी लिखे। उनमें व्यंग तथा सुरुचिपूर्ण हास्य की पुट देकर सामाजिक, धार्मिक अथवा राजनीतिक समस्याओं का उद्घाटन किया गया है। इनमें **बदरीनाथ भट्ट** के 'चुंगी की उम्मेदवारी' (१६१४ ई०), 'विवाह-विज्ञापन' तथा 'लबड़धोंधों', **राधेश्याम मिश्र** का 'कौंसिल की मेम्बरी', **सुदर्शन** का 'आनरेरी मजिस्ट्रेट', **पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'** के 'उजबक' और 'चार बेचारे', **गंगाप्रसाद श्रीवास्तव** का 'मार-मारकर हकीम' और **राधेश्याम कथावाचक** का 'साहब बहादुर उर्फ़ चड्ढा गुलखैरू' आदि उल्लेखनीय हैं।

राष्ट्रीय जागरण के पूर्ण प्रस्फुटन-काल में अनेकानेक प्रतिभावान् कवियों, आलोचकों, कथाकारों के समान ही जयशंकर प्रसाद जैसे महान् नाटककार का भी उदय हुआ। प्रसाद की प्रतिभा भारतेन्दु के समान ही कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी, निबन्ध, आलोचना—सभी क्षेत्रों में मौलिक रूप से स्फुटित हुई।

पहला महायुद्ध समाप्त हो चुका था और देश में पहली बार ऐसे

राष्ट्रीय आन्दोलनों का सूत्रपात हो रहा था जिनमें समग्र जनता संगठित रूप से भाग लेकर उनकी रूपरेखा, लक्ष्य और कार्य-नीति पर व्यक्त-अव्यक्त प्रभाव डालने लगी थी। पाश्चात्य साहित्य और जनवादी विचारों का भी गहरा प्रभाव पड़ रहा था। ऐसे समय यह स्वाभाविक है कि भारतीय नाट्य-परम्परा में भी इन प्रभावों से परिवर्तन आएँ। बंगाली नाटकों के अनुवाद धड़ल्ले से निकल रहे थे और द्विजेन्द्रलाल राय और रवीन्द्रनाथ ठाकुर के नाटकों ने विशेष रूप से हिन्दी के नाटककारों की शैली और रचना-तन्त्र (टेकनीक) को प्रभावित किया था। यह बात नहीं है कि यह प्रभाव सर्वथा स्वस्थ रूप से ही ग्रहण किए गए हों। साधारण रचनाओं में अनुकरण की प्रवृत्ति अधिक थी, जिसके कारण अंग्रेज़ी का अनुकरण करने वाले बँगला नाटकों की देखा-देखी ही हिन्दी-लेखकों ने भी विषय-वस्तु की आवश्यकताओं का ध्यान न रखकर संस्कृत-नाटकों के परम्परागत विधान को छोड़ पाश्चात्य नाटकों का अनुकरण करना शुरू कर दिया। नान्दी, मंगलाचरण तथा प्रस्तावना का बहिष्कार-सा हो चला। स्वयं भारतेन्दु ने अपने दो-एक नाटकों में यह काट-छाँट शुरू कर दी थी। भारतीय साहित्य-शास्त्र में नाटक भी काव्य के अन्तर्गत ही माना जाता है, इसलिए नाटक का उद्देश्य भी रस-सृष्टि ही समझा गया है। इसीलिए पात्र कैसे हों और भिन्न-भिन्न परि-स्थितियों में पड़कर वे संवाद और चेष्टाओं द्वारा किस प्रकार दर्शकों में रस-संचार करें, इसका विस्तृत विधान प्राचीन नाट्य-शास्त्र में मिलता है। पाश्चात्य नाटकों की परम्परा इससे भिन्न रही है। उनमें विषय-वस्तु और चरित्र-चित्रण पर विशेष ज़ोर दिया जाता है जिससे विपरीत परिस्थितियों से संघर्ष करते हुए मानव का समस्त मानसिक अन्तर्द्वन्द्व दरशाया जा सके। यहाँ दोनों में से किसी को अच्छा-बुरा सिद्ध करने का प्रश्न नहीं है। केवल यह समझ लेना आवश्यक है कि पाश्चात्य साहित्य-संस्कृति के सम्पर्क में आने से हमारे नाटकों की रचना पर उनका प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। केवल अन्धाधुन्ध अनुकरण ही बुरी चीज़ होती है, अन्यथा

ऐसे बाह्य प्रभावों को अपने देश-काल की चेतना में आत्मसात् करके प्रतिभावान कलाकार मौलिक और अनूठी कृतियों की रचना करने में सफल हो सकते हैं। प्रसाद ने ऐसे ही सार्थक समन्वय की चेष्टा की और इसमें उन्हें अभूतपूर्व सफलता भी मिली।

जयशंकरप्रसाद (सन् १८६१-१६३७ ई०) का पहला नाटक 'सज्जन' सन् १६१० ई० में प्रकाशित हुआ था और फिर 'करुणालय', 'प्रायश्चित' तथा 'राजश्री' क्रमशः सन् १६१२, १६१३, १६१४ में प्रकाशित हुए। किन्तु ये प्रारम्भिक नाटक थे और प्रसाद की कला, शैली और दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व नहीं करते। उनसे केवल एक प्रवृत्ति का आभास मिलता है, जिसका अपनी परिपुष्ट रचनाओं द्वारा उन्होंने साहित्य में प्रवर्त्तन किया। यह 'छायावाद' (रोमाण्टिक भाव-विचारधारा) की प्रवृत्ति है। 'राजश्री' को उन्होंने बाद में आमूल परिवर्तन-संशोधन करके प्रकाशित कराया।

प्रसाद ने इसके पश्चात् सात वर्ष तक अध्ययन, मनन और कला-साधना में लगाए। सन् १६२१ में 'विशाख' प्रकाशित हुआ जिसकी भूमिका में उन्होंने अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए लिखा कि, "मेरी इच्छा भारतीय इतिहास के अप्रकाशित अंक में से उन प्रकाण्ड घटनाओं का दिग्दर्शन कराना है जिन्होंने हमारी वर्तमान स्थिति को बनाने का बहुत-कुछ प्रयत्न किया है।" इस दृष्टिकोण का विकास हो जाने के बाद 'राजश्री' को सम्मिलित करके प्रसाद ने अपने अन्त समय तक दस नाटक और रचे जिनमें से आठ ऐतिहासिक हैं।

प्रसाद के नाटकों का विवेचन करने से पूर्व यह स्पष्ट कर देना प्रासंगिक होगा कि यह हमारे देश के राष्ट्रीय जागरण की ही विशेषता नहीं है कि ऐतिहासिक घटनाओं और पात्रों को लेकर इतने अधिक नाटकों और उपन्यासों की रचनाएँ हुईं। सांस्कृतिक पुनर्जागरण-काल में पाश्चात्य देशों के साहित्य में भी यह प्रवृत्ति प्रमुख रही है। यहाँ इतना और कह देना ज़रूरी है कि केवल सांस्कृतिक या राष्ट्रीय जागरण के

काल में ही नहीं बल्कि किसी भारी राष्ट्रीय संकट के काल में भी जीवन की यथार्थ समस्याओं को समझने के लिए या उन समस्याओं का सामना करने योग्य मनोबल, साहस और उदात्त आदर्श-भावना की प्रेरणा पाने के लिए लेखक और कलाकार अतीत के गौरवशाली इतिहास की उद्-भावना करते हैं और अपने जातीय संघर्ष में उसे अपने प्रेरक, मित्र और सहयोगी की निसर्ग भूमिका प्रदान कर देते हैं। अतीत जीवन की गरिमा से यह इतिहास वर्तमान जीवन की संकटापन्न दुरवस्था की शृंखला जोड़कर वर्तमान जीवन के वैषम्य की चेतना को ही गहरा बनाता है। अन्ततः यह चेतना वर्तमान को बदलने का संकल्प बनकर कार्य-क्षेत्र में प्रतिफलित होती है। अपने इतिहास से प्रेरणा लेने की प्रवृत्ति स्वाभाविक है, प्रगतिशील है, कोरी पुनरुत्थानवादी नहीं।

भारतेन्दु के समय से ही यह प्रवृत्ति हमारे साहित्य में मुखर रही है। परन्तु भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के लेखकों ने अधिकतर पौराणिक (Mythological) कथानकों और पात्रों को ही लिया था। वाल्मीकि की 'रामायण' और वेदव्यास का 'महाभारत' हमारे अतीतकालीन जीवन के दो ऐसे महाकाव्य हैं, जिनमें नियति-चक्र के विरुद्ध संघर्ष करते हुए सामाजिक मनुष्य के अदम्य साहस, औदार्य, विवेक और सहानुभूति के प्रतीक, ऐसे असंख्य पात्र और घटनाएँ हैं जो अपने सहज मानवीय गुणों के कारण हमारे देश के लोक-मानस में आदिकाल से अपना स्थान बनाये हुए हैं। राष्ट्रीय चेतना के स्फुरण काल में इन पौराणिक कथाओं को जनता की स्मृति में बदली हुई परिस्थितियों के सन्दर्भ में पुनः मूर्तित कर देना, स्वयं अपने में एक प्रगतिशील कार्य था। बाद में डी० एल० राय आदि के नाटकों से प्रभाव ग्रहण करके हिन्दी-लेखकों ने पौराणिक आख्यानों को छोड़कर दो-एक ऐतिहासिक नाटक भी लिखे। लेकिन वे प्रारम्भिक प्रयत्न के रूप में ही स्मरणीय हैं। वास्तविक अर्थ में ऐतिहासिक नाटकों की रचना तो जयशंकर प्रसाद से ही शुरू होती है। उन्होंने ही सबसे पहले गम्भीर खोज और अध्ययन करके मध्य-युग से लेकर बौद्ध-

कालीन तथा आर्यकालीन भारत तक के उन उदात्त, देश-भक्त पात्रों की अपने नाटकों में मूर्त अवतारणा की जिनके जीवन-चरित युग-जीवन को उदात्त सांस्कृतिक प्रेरणा देने में समर्थ थे। प्रसाद का दृष्टिकोण यद्यपि छायावादी (स्वच्छन्दतावादी, रोमाण्टिक) है, फिर भी उन्होंने इतिहास की मौलिक खोज के पश्चात् ही ऐतिहासिक पात्रों की कलात्मक सृष्टि की है। उनके नाटकों की भूमिकाएँ अपना स्वतन्त्र ऐतिहासिक मूल्य रखती हैं। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता राखाल बाबू ने भी स्वीकार किया है कि प्रसादजी ने अनेक स्थलों पर हमारे इतिहास-ज्ञान में संशोधन किया है।

जयशंकर प्रसाद के तेरह नाटकों में से आठ ऐतिहासिक, तीन पौराणिक और दो भावात्मक हैं।

ऐतिहासिक नाटकों में ही 'राजश्री' प्रसाद की प्रथम कृति है। 'राजश्री' स्थाणीश्वर नरेश राज्यवर्धन और हर्षवर्धन की बहन थी और कान्यकुब्ज नरेश ग्रहवर्मा को ब्याही गई थी, जिसे बाद में मालवपति उपगुप्त ने मरवा दिया था। इस नाटक में राजश्री के वृत्तान्त के साथ-साथ हर्षकालीन भारत का भी चित्रण किया गया है, और प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग तक को पात्र के रूप में घसीटा गया है, जिससे कथावस्तु को व्यर्थ की तूल देनी पड़ी है। 'विशाख' का कथानक काश्मीरी इतिहास-कार कल्हण की राजतरंगिनी से लिया गया है। 'अजातशत्र' में प्रसाद ने इस प्रचलित धारणा का खण्डन किया है कि अजातशत्रु अपने पिता बिम्बसार का वध करके सिंहासन पर बैठा। परन्तु फिर भी बिम्बसार का चरित्र गम्भीर, उदार और शालीन बना है, और अजातशत्रु उच्छृंखल और स्वार्थी है। इस नाटक में सभी पात्रों का चरित्र-चित्रण उच्चकोटि का हुआ है, केवल गौतमबुद्ध का चरित्र उनके अनुरूप नहीं उभर सका। 'चन्द्रगुप्त' प्रसाद जी का सबसे लम्बा नाटक है। उन्होंने इस जटिल, किन्तु अत्यन्त सुगठित नाटक में भारत पर यूनानी आक्रमण और मौर्य-राज्य के संस्थापन का विस्तृत चित्र दिया है; साथ ही यह

भी सिद्ध किया है कि मौर्य शूद्र-वंश के नहीं बल्कि पिप्पली-कानन के क्षत्रिय थे और चन्द्रगुप्त ने यूनानी सेनापति सेल्यूकस को परास्त करके भारत का मुख उज्ज्वल किया था। चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में पहले भी नाटक लिखे जा चुके थे। संस्कृत में विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस' नाटक तो था ही, द्विजेन्द्रलाल राय का 'चन्द्रगुप्त' भी हिन्दी पाठकों को उपलब्ध था। परन्तु प्रसाद ने इन दोनों से अधिक विशाल और जटिल कथा-वस्तु की योजना की। प्रसाद ने चाणक्य के चरित्र में भी उज्ज्वलता भर दी है। 'स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य' में गुप्तवंशीय सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय के प्रपौत्र के उस शौर्य का चित्रण है जिसकी स्मृति से प्रत्येक भारतवासी का मस्तक आज भी गर्व से ऊँचा उठ जाता है। हूणों से युद्ध करते हुए स्कन्दगुप्त खेत रहे और उनके साथ ही गुप्त-वंश का साम्राज्य भी नष्ट हो गया। प्रसादजी के अनुसार स्कन्दगुप्त ही वह विक्रमादित्य थे जिनके राजकवि कालिदास थे। स्कन्दगुप्त का चरित्र-चित्रण आदर्श हुआ है। विजया और देवसेना का चरित्र भी अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। प्रसाद के नाटकों में 'स्कन्दगुप्त' सम्भवतः सबसे श्रेष्ठ है। 'ध्रुवस्वामिनी' प्रसाद का अन्तिम ऐतिहासिक नाटक है। इसमें उन्होंने गुप्तकाल के रहस्य पर प्रकाश डाला है। विशाखदत्त के एक अन्य नाटक 'देवी चन्द्रगुप्तम्' के कई उद्धरण प्राचीन संग्रहों में मिले हैं, जिनमें समुद्रगुप्त के बड़े पुत्र रामगुप्त का उल्लेख हुआ है, जो चन्द्रगुप्त द्वितीय से पूर्व गद्दी पर बैठे थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय इन्हीं को गद्दी से हटाकर सम्राट् बने थे। ध्रुवस्वामिनी रामगुप्त की पत्नी थी, किन्तु चन्द्रगुप्त द्वितीय ने उससे पुनर्विवाह किया। प्रसाद ने इस कथा से यह सिद्ध करना चाहा है कि उस काल में भी विधवा-विवाह होते थे। यह छोटा सा नाटक प्रौढ़ और सुन्दर शैली में लिखा गया है। स्त्री-पात्रों का चरित्र-चित्रण इसमें विशेष रूप से निखरा है।

प्रसाद के अन्य नाटकों में 'जनमेजय का नागयज्ञ' और 'कामना' ही महत्त्वपूर्ण हैं।

'जनमेजय का नागयज्ञ' का कथानक पौराणिक है और उसमें उन्होंने आर्य और नाग जातियों का संघर्ष दिखाया है। घटना कलियुग के प्रारम्भ की है। अर्जुन के पौत्र राजा परीक्षित को तक्षक नाग ने मारा था, इस पर उनके पुत्र जनमेजय ने इसका बदला लेने का प्रण किया। पौराणिक नाटकों की परम्परा में प्रसाद का यह नाटक अत्यन्त प्रौढ़ और महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें जनमेजय और तक्षक नाग अपनी-अपनी सभ्यता के आदर्श चित्रित किये गए हैं। दो जातियों के संघर्ष से खिन्न और त्रस्त होकर आर्य-बाला सरमा विश्वमैत्री की समर्थक बन जाती है। अन्त में दोनों पक्षों में मेल होता है और जनमेजय का विवाह नाग-पुत्री मणिमाला से हो जाता है। 'कामना' एक भाव-नाट्य है। सांसारिक माया-मोह से दूर विजन प्रकृति के अंचल में पली मनुष्य की कामना किस प्रकार विलास की लालसा में पड़कर अपने उच्च आदर्शों से नीचे गिर जाती है, इस नाटक में प्रसाद ने इसी भाव को रूपक में बाँधा है। अन्त में विवेक की विजय के साथ कामना सन्तोष का दामन पकड़ लेती है।

प्रसाद के नाटकों के बारे में आम तौर पर यह कहा जाता है कि उनकी शैली दुरूह है, भाषा क्लिष्ट है और कहीं भावुकता तो कहीं दार्शनिकता की विशेष पुट है, जिससे साधारण पाठक के लिए उनके अर्थ की गहराई तक पहुँचना दुर्गम हो जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि उनकी भाषा संस्कृत-गर्भित है, बोलचाल की मुहावरेदार, फड़कती भाषा नहीं है। यही कारण है कि उनका परिहास कहीं-कहीं अत्यन्त परिष्कृत तथा कृत्रिम हो गया है। लेकिन समग्र रूप से देखें तो प्रसाद को यह भाषा अपने नाटकों को अर्थगाम्भीर्य और सूक्ष्म सांस्कृतिक वातावरण देने के लिए ही अपनानी पड़ी, अतः दोष होते हुए भी इससे उनके नाटकों की कलात्मकता पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ा हैं। उनके नाटकों के बारे में दूसरी बात यह कही जाती है कि वे पढ़े ही जा सकते हैं, उनका अभिनय नहीं किया जा सकता। हम पहले बता चुके हैं कि जिस समय प्रसाद ने

लिखा उस समय तक सामान्य जन-जीवन से साहित्यकार का व्यवधान इतना बढ़ गया था कि वह अब मेले-ठेलों के अवसर पर प्रयोग में आने वाले लोक-नाट्य के रंगमंच के लिए नाटक न लिख सकता था और न लोक-रंगमंच की अति सरल, वैविध्यरहित और साधारण शैली और टेकनीक उन जटिल घटना-चक्रों, अनुभूतियों और भाव-भंगियों को ही दिखाने में समर्थ थी जिनकी योजना प्रसाद को अभीष्ट थी। पारसी थियेटरों के कुरुचिपूर्ण, व्यावसायिक रंगमंच के लिए लिखने का प्रश्न भी प्रसाद जैसे श्रेष्ठ कलाकार के सामने न था। स्कूल-कालेजों का 'अमेच्योर' (Amateur) रंगमंच भी अभी तक अविकसित ही था और राष्ट्रीय रंगमंच की तो उस समय कल्पना भी दुर्लभ थी। इसलिए प्रसाद ने यद्यपि खेले जाने के लिए ही नाटक लिखे, और उनके अधिकतर नाटक पूर्णतः अभिनेय हैं, परन्तु अभी तक कला के श्रेष्ठ राष्ट्रीय रंगमंच के अभाव में अधिक खेले नहीं जा सके हैं, जिससे यह भ्रम पैदा हुआ है। रंगमंच की सम्भावनों का अभी हमारे देश में पूरी तरह विकास ही नहीं हुआ। अतः पहले से ही ऐसी धारणाएँ बनाकर एक महान् कलाकार की कृतियों को अनुपयुक्त ठहरा देना अनुचित है।

प्रसाद की पीढ़ी तथा बाद के लेखकों ने पौराणिक, ऐतिहासिक और सामाजिक नाटकों की रचना का क्रम जारी रखा। **माखनलाल चतुर्वेदी** ने 'कृष्णार्जुन युद्ध' (१९२२ ई०) लिखा जो उन दिनों बहुत प्रसिद्ध हुआ। **पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र'** ने 'महात्मा ईसा' लिखा और **सुदर्शन** ने 'अंजना'। **प्रेमचन्द** ने हज़रत हुसैन के मारे जाने के करुण ऐतिहासिक वृत्त को लेकर 'कर्बला' नाटक लिखा, परन्तु यह नाटक सफल नहीं बन सका। इसके अतिरिक्त 'संग्राम' नाम का उनका सामाजिक नाटक भी अस्वाभाविक और शिथिल है। प्रेमचन्द जितने सफल उपन्यासकार और कहानी-लेखक थे उतने ही असफल नाटककार भी थे। **लक्ष्मीनारायण मिश्र** ने 'अशोक', 'संन्यासी', 'राक्षस का मन्दिर', 'मुक्ति का हास', 'राजयोग', 'सिन्दूर की होली' आदि अनेक नाटक

लिखे हैं। मिश्रजी यों तो सफल नाटककार हैं, लेकिन इतिहास का अध्ययन आपका उतना गहन नहीं है जितना प्रसाद का था, जिससे आपके ऐतिहासिक नाटकों में अपनी इच्छित बात को सिद्ध करने के लिए मनमाने ढंग से घटनाओं की योजना और चरित्र-चित्रण रहता है। परन्तु आपके सामाजिक नाटक अपेक्षया अधिक सफल हैं। उनमें लेखक की गहरी मनोवैज्ञानिक अन्तर्दृष्टि और जीवन की समस्याओं की कलात्मक पकड़ भी दिखाई देती है। **जगन्नाथप्रसाद मिलिन्द** ने 'प्रताप-प्रतिज्ञा' लिखा, जो अपने समय में बहुत प्रशंसित हुआ। यह नाटक ऐतिहासिक है, परन्तु इतिहास की मोटी-मोटी बातों को लेकर केवल कल्पित घटनाओं के सहारे रचा गया है। वैसे गठन और चरित्र-चित्रण साधारणतया अच्छा है। **गोविन्दवल्लभ पन्त** के नाटकों में 'वरमाला', 'राजमुकुट' और 'अंगूर की बेटी' उल्लेखनीय हैं। पहले का कथानक उन्होंने मारकण्डेय पुराण से लिया है और दूसरे में मेवाड़ की वीरांगना पन्ना धाय के त्याग का चित्रण किया है। तीसरे में मद्यपान की समस्या उठाई गई है। **श्री सुमित्रानन्दन पन्त** ने 'ज्योत्स्ना' नाम से एक भाव-रूपक लिखा, जिसमें नाटक की अपेक्षा काव्य के तत्व ही अधिक हैं। **वृन्दावन लाल वर्मा** ने 'फूलों की बोली' और 'बाँस की फाँस', 'हंस मयूर', 'रानी लक्ष्मीबाई' आदि अनेक नाटक लिखे हैं, किन्तु आप में एक नाटककार का प्रतिभा का अभाव है। **सेठ गोविन्दास** ने सम्भवतः इस बीच सबसे अधिक नाटक लिखे हैं किन्तु प्रचार के बावजूद उनमें से एक भी हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष स्थान नहीं बना पाया। 'कर्तव्य', 'प्रकाश', 'हर्ष', 'स्पर्धा', 'कुलीनता' आदि उनके नाटकों की सूची लम्बी है। **उदयशंकर भट्ट** अपेक्षया अधिक सफल नाटककार हैं। आपके पौराणिक नाटक गहन अध्ययन का परिचय देते हैं। आपके 'मत्स्यगन्धा', 'सागर-विजय', 'अम्बा' और 'आदिम-युग' पौराणिक नाटक हैं। 'मत्स्यगन्धा' छोटी-सी नाटिका है जिसमें मत्स्यगन्धा पराशर ऋषि से समागम करके अमर यौवन का वरदान प्राप्त करती है, किन्तु विधवा हो जाने पर

यौवन-काल की चंचलता से पाया हुआ वरदान उसे अभिशाप लगने लगता है। 'अम्बा' शाल्व से प्रेम करती है किन्तु हरण किये जाने से शाल्व उसका परित्याग कर देता है। इस पर अम्बा भीष्म का व्रत खण्डित करने के लिए उनसे विवाह करने पर तुल जाती है। 'विश्वामित्र' और 'राधा' भट्ट जी के छोटे भाव्य-नाट्य हैं। **रामनरेश त्रिपाठी** ने भी कुछ नाटक लिखे हैं जिनमें 'जयन्त' और 'प्रेम-लोक' लोकप्रिय हुए थे। जयन्त में गरीबों पर अमीरों के अत्याचार का चित्रण है तो प्रेम-लोक में हिन्दू-मुस्लिम एकता की समस्या का। **आचार्य चतुरसेन शास्त्री** ने भी कतिपय ऐतिहासिक नाटक लिखे हैं, जिनमें 'अमर राठौर' तथा 'उत्सर्ग' प्रसिद्ध हैं। पहले में शाहजहाँ के जागीरदार अमरसिंह राठौर की वीरता का वृत्त है। किन्तु इसमें ऐतिहासिक घटनाएँ सारी सही नहीं हैं। दूसरे नाटक में चित्तौड़ के तृतीय शाका की घटना के आधार पर कथानक का निर्माण हुआ है, यद्यपि घटना के अनुकूल न चरित्र-चित्रण हो पाया है और न वस्तु-निर्माण ही। **हरिकृष्ण 'प्रेमी'** अपेक्षया सफल नाटककार हैं। एक समय आपकी प्रसिद्धि भी काफी थी। आपने 'स्वर्ण-विहान' नाटक लिखा, जिसे सरकार ने ज़ब्त कर लिया। बाद में आपने 'रक्षा-बन्धन', 'शिवा-साधना' तथा 'प्रतिशोध' आदि मध्य-कालीन भारत से सम्बन्ध रखने वाले ऐतिहासिक नाटक लिखे। आधुनिक समस्याओं का समाधान खोजने के लिए ही इन ऐतिहासिक कथानकों को अपनाया गया है। इनमें 'रक्षा-बन्धन' सबसे सफल है, यद्यपि उसकी अति-भावुकतापूर्ण शैली खटकती है। **उपेन्द्रनाथ 'अश्क'** सामाजिक समस्याओं को लेकर नाटक लिखने में सबसे अधिक सफल हुए हैं। आपके नाटकों में 'छठा बेटा', 'स्वर्ग की झलक', 'जय-पराजय', 'कैद' तथा 'उड़ान' हैं। सभी अभिनीत हो चुके हैं और सफल रहे हैं। नाटकों की कथावस्तु सामयिक जीवन की विभिन्न समस्याओं में निर्मित हुई है। समस्याएँ यथार्थ हैं और उनका चित्रण भी यथार्थ हुआ है। शैली, संवाद, वस्तु-विन्यास सभी उपयुक्त और सूक्ष्म रीति से मनोवैज्ञानिक और

सुगठित हैं। **जगदीशचन्द्र माथुर** का ऐतिहासिक नाटक 'कोणार्क' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रसाद के बाद यों तो ऐतिहासिक नाटक बहुत-से लिखे गए, लेकिन कोई भी प्रसाद के नाटकों की कलात्मक श्रेष्ठता को नहीं छू पाया। 'कोणार्क' ही एक ऐसा अपवाद देखने में आया है, जिससे आशा बँधती है कि ऐतिहासिक नाटकों के क्षेत्र में एक नई प्रतिभा का उदय हो रहा है जो 'प्रसाद' से भिन्न स्तर पर, भिन्न समस्याओं को लेकर इतिहास के गर्त्त में भिन्न दिशाओं से प्रवेश करके युगानुकूल कथा-वस्तु की टोह में है। 'कोणार्क' में उड़ीसा-स्थित 'कोणार्क' के प्राचीन ध्वस्त मन्दिर के निर्माण और ध्वंस-सम्बन्धी किंवदन्तियों और ऐतिहासिक सूचनाओं के आधार पर उसके निर्माता शिल्पी विशु की कला-साधना के वृत्तान्त को लेकर कथावस्तु का निर्माण हुआ है। 'प्रसाद' के समय में और उनके बाद भी हिन्दी में बँगला और पाश्चात्य नाटकों के अनुवाद का क्रम जारी रहा। अनुवादकों में रामचन्द्र वर्मा और रूपनारायण पाण्डेय विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। **रामचन्द्र वर्मा** ने द्विजेन्द्रलाल राय के नाटकों के अतिरिक्त गिरीश बाबू के दो नाटकों 'प्रफुल्ल' और 'वैधव्य कठोर दण्ड है या शान्ति' तथा बर्नार्ड शॉ के 'जोन ऑव आर्क' का अनुवाद किया है। **रूपनारायण पाण्डेय** ने बंगला से 'आहुति अथवा जयपाल', 'पतिव्रता', 'खानजहाँ', 'अचलायतन', 'दुर्गादास', 'ताराबाई', 'शाहजहाँ', 'चन्द्रगुप्त' आदि के अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। इनमें गिरीश बाबू, क्षीरोदप्रसाद विद्याविनोद, रवीन्द्रनाथ ठाकुर और द्विजेन्द्रलाल राय के नाटक शामिल हैं।

प्रसाद और उनके बाद के नाटककारों की कृतियों के इस संक्षिप्त परिचय से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। पहली बात तो यह कि ऐतिहासिक अथवा पौराणिक नाटकों की परम्परा आगे नहीं बढ़ सकी, यद्यपि इस कोटि के नाटक पर्याप्त संख्या में लिखे गये। प्रसाद ने अपने युग-जीवन को इतिहास की चेतना से अनुप्रेरित और अनुप्राणित करने के लिए केवल उन्हीं ऐतिहासिक कथानकों का चयन किया था जो इस दृष्टि से

अर्थवान् और गौरवशाली हो सकते थे। किन्तु बाद के लेखकों की दृष्टि इतनी व्यापक नहीं रही, केवल ऐतिहासिक नाटक लिखने की खातिर अपनी-अपनी सीमित दृष्टि और रुचि से ऐच्छित प्रेरणा पाने के लिए ही उनकी रचना हुई। सामयिक समस्याओं का समाधान पाने के लिए मध्यकालीन भारत के ऐतिहासिक कथानक लेकर जो नाटक लिखे गए, वे अधिकतर असफल ही रहे। या तो प्रतिभा की कमी या कथावस्तु की परिसीमित उपयोगिता या दोनों के ही कारण मध्यकालीन ह्रास-युग के चित्र कलात्मक नहीं बन पाए। दूसरी बात यह कि भारतेन्दु की पीढ़ी के या बाद के नाटककारों ने जितनी व्यापक सामाजिक चेतना दिखाई थी, उतनी व्यापक सामाजिक चेतना प्रसाद के बाद के नाटककारों में देखने को नहीं मिलती। जन-जीवन में आज नई शक्तियों के प्रभाव से जो परिवर्तन हो रहे हैं, जो असन्तोष, वैषम्य, संकट और वेदना भरी हुई है, नाटकों के माध्यम से इसका कलात्मक चित्रण अपेक्षया कम ही हो पाया। केवल उपेन्द्रनाथ 'अश्क' ही इस दिशा में कुछ सफल प्रयास करते दिखाई देते हैं। अन्य लेखक अक्सर व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक गुत्थियों को उलझाने-सुलझाने में ही बहक जाते हैं।

एक बात और—परिस्थितियों में जो और परिवर्तन हुए सो तो हुए ही, नाट्य-परम्परा में भी एक नया विकास इस बीच हुआ। स्कूल-कालिजों के 'अमेच्योर' रंगमंच के साथ-साथ हिन्दी में राष्ट्रीय रंगमंच का विकास भी शुरू होने लगा, जिसके परिणामस्वरूप बड़े नाटकों के स्थान पर लघु नाटकों के खेले जाने की सम्भावनाएँ पैदा हो गई। इससे हिन्दी में एकांकी' कला, का विकास अनिवार्य हो गया, जिनमें 'प्रहसन' भी शामिल हैं। फलतः प्रसाद के बाद के सभी नाटककारों का मुख्य क्षेत्र एक प्रकार से एकांकी ही रहा है।

एकांकी नाटक

प्राचीन लक्षण-ग्रन्थों में रूपक और उपरूपकों के जो भेद गिनाये गए हैं उन में से भाण, व्यायोग, अंक, वीथि और प्रहसन—ये पांच

एकांकी रूपक-प्रकार हैं। इन एकांकी रूपकों की अंग्रेज़ी के कर्टेन रेज़र (Curtain Raiser) या आफ्टर पीसेज़ (After Pieces) से तुलना नहीं की जा सकती, क्योंकि कर्टेन रेज़र या आफ्टर पीसेज़ १८वीं-१९वीं शताब्दी के इंगलिस्तान में मुख्य नाटक के प्रारम्भ होने से पहले या बाद में दर्शकों का समय काटने के लिए दिखाए जाते थे। उनका अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व न होता था और वे अधिकतर भाण और प्रहसन से मिलते-जुलते थे। हिन्दी के आधुनिक एकांकी नाटकों का सम्बन्ध हम संस्कृत के प्राचीन रूपकों से जोड़ सकते हैं। यद्यपि आधुनिक एकांकी विषय-वस्तु और कला की दृष्टि से प्राचीन एकांकी रूपकों से बहुत आगे विकास कर आया है, फिर भी इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिये कि हिन्दी में नाटकों की परम्परा का सूत्रपात करने वाले **भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र** ने जो एकांकी लिखे उनमें से 'विषस्य विषमौषधम्' भाण रूपक है और 'धनंजय विजय' व्यायोग की कोटि में आता है और 'अंधेर नगरी' तथा 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' प्रहसन हैं और 'भारत-दुर्दशा' एक रूपक है। इनके पश्चात् **श्रीनिवासदास, प्रेमघन, राधाचरण, गोस्वामी, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र** आदि अनेक लेखकों ने एकांकी लिखे, जिन्हें रूपकों में ही परिगणित किया जाता है। आधुनिक एकांकी से इन रूपकों का शैली-भेद अवश्य है, परन्तु उन्हें हम रूपक कहकर, आधुनिक एकांकियों को उनकी परम्परा और उनके वर्ग से अलग नहीं कर सकते। क्योंकि भारतेन्दुकालीन एकांकियों की विषय-वस्तु अपने सामयिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन से ली गई थी, यह तथ्य उन्हें आधुनिक जीवन की परम्परा का प्रतिनिधि बना देता है। अधिक-से-अधिक यह कहा जा सकता है कि भारतेन्दुयुगीन एकांकी आधुनिक एकांकियों के प्रारम्भिक रूप हैं। उनमें कला का वह विकसित रूप नहीं मिलता जो हमारे नये एकांकी-लेखकों की कला में विकसित हो रहा है।

हिन्दी के आधुनिक एकांकियों में हमें कला-सम्बन्धी जिस मौलिक नवीनता के दर्शन होते हैं वह एक बड़ी सीमा तक पाश्चात्य नाटककारों की कला से प्रभावित है। और यह स्वाभाविक भी था कि इब्सन और बर्नार्ड शॉ जैसे इस युग के विश्ववन्द्य कलाकारों का क्रान्तिकारी प्रभाव हमारे साहित्य पर भी पड़ता। उनके नाटकों ने हिन्दी के अधिकांश नाटककारों और एकांकी लेखकों को अपनी प्रतिभा का विकास करने में योग दिया है। हमारे नाटककारों की विषय-वस्तु चाहे ऐतिहासिक या पौराणिक हो अथवा वर्तमान जीवन के व्यक्तिगत या सामाजिक संघर्षों से सम्बन्ध रखती हो, उसे नाटकीय रूप देने में वह जिस कलात्मक क्षमता का परिचय देते हैं, उसका संस्कार एक बड़ी सीमा तक पाश्चात्य नाटकों के प्रभाव से हुआ है।

हिन्दी में एकांकियों की जिस परम्परा का प्रारम्भ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने किया था वह अपने विकास की कई मंज़िलों को पार कर आई है, और हिन्दी के आधुनिक नाटकों में अब हमें निश्चय ही कला का विकसित रूप दिखाई देता है। भारतेन्दुकालीन नाटकों का संक्षेप में हम उल्लेख कर चुके हैं। इन नाटकों की कला पर संस्कृत के नाटकों का विशेष प्रभाव था, यद्यपि बंगाली नाटकों के माध्यम से पाश्चात्य शैली का प्रभाव भी इन पर पड़ने लगा था।

उस काल के नाटकों के विषय सामाजिक जीवन से लिए गए थे। इस प्रकार वे हमारे राष्ट्रीय जागरण की प्रारम्भिक चेतना को प्रतिबिम्बित करते हैं, और हिन्दी के आधुनिक एकांकी के प्राथमिक रूप कहे जा सकते हैं।

हिन्दी एकांकियों का यह प्रथम काल सन् १८७३ से लेकर, जब भारतेन्दु ने 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' लिखा, सन् १९२९ तक मानना चाहिए, जब प्रसाद ने अपने 'एक घूँट' एकांकी की रचना की। वास्तव में 'एक घूँट' में ही आकर एकांकी नाटक की आधुनिक शैली का भरपूर निखार होता है, जिसके कारण डा० नगेन्द्र तथा अनेक दूसरे समालोचक

उसे हिन्दी का प्रथम एकांकी मानते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि 'एक घूँट' के बाद एकांकी लेखन की परम्परा बहुत तेज़ी से आगे बढ़ी और पिछले बीस-बाईस वर्षों में अनेक प्रतिभाशाली एकांकीकार हमारे साहित्य में पैदा हुए।

प्रसादजी के बाद यों तो **सूर्यकरण पारीख, सुदर्शन, जैनेन्द्रकुमार, चन्द्रगुप्त विद्यालंकार, पं० गोविन्दवल्लभ पन्त,** आदि अनेक लेखकों ने एकांकी लिखे, लेकिन शैली और कला की शिथिलता के कारण साहित्य में अपना विशेष स्थान नहीं बना पाए। लेकिन इस बीच पाश्चात्य नाटककारों, विशेषकर बर्नार्ड शॉ से प्रभावित **भुवनेश्वर प्रसाद** और एकांकी की टेकनीक के मर्मज्ञ **डॉ० रामकुमार वर्मा** आदि एकांकीकार उत्कृष्ट कला का विकास कर रहे थे। बाद को **श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क', उदयशंकर भट्ट** और दूसरे अनेक एकांकी-लेखक भी इस क्षेत्र में आये। यहाँ हम प्रमुख आधुनिक एकांकीकारों का परिचय सम्भव ऐतिहासिक क्रम से दे रहे हैं।

भुवनेश्वर प्रसाद के छः एकांकियों का संग्रह 'कारवां' सन् १६३५ में प्रकाशित हुआ था। इन नाटकों पर बर्नार्ड शॉ के भाव-विचारों का गहरा प्रभाव है। यद्यपि पाश्चात्य विचार-प्रणाली का उनमें इतना गहरा रंग मिलता है, फिर भी ये नाटक जब प्रकाशित हुए उस समय हिन्दी-संसार ने उनका उत्साहपूर्वक स्वागत किया। इसका एक कारण यह भी था कि हमारे मध्यवर्गीय सामाजिक जीवन की खोखली नैतिकता और मिथ्या आडम्बर का निर्ममतापूर्वक इन नाटकों में उद्घाटन किया गया है, जो दर्शक और पाठक को अपने जीवन की वास्तविकता के प्रति झकझोर कर जागरूक कर देते हैं। भुवनेश्वर बर्नार्ड शॉ की अन्तर्भेदी दृष्टि का अपने अन्दर विकास करके भारतीय जीवन और भारतीय मानस को अपने अनुभव से ढालकर मौलिक नहीं बना पाए, जिससे उनके नाटकों में मौलिकता की अपेक्षा अनुकरण की प्रवृत्ति

अधिक दिखाई दी। आजकल सम्भवतः उनका लिखना बन्द-सा हो गया है।

डा० रामकुमार वर्मा के एकांकी नाटकों का पहला संग्रह 'पृथ्वीराज की आँखें' सन् १९३६ में निकला। इसके बाद उनके 'रेशमी टाई', 'चारुमित्रा', 'सप्तकिरण', 'विभूति', 'चार ऐतिहासिक एकांकी' और 'कौमुदी-महोत्सव' आदि एकांकी-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। वर्माजी के नाटकों का क्षेत्र ऐतिहासिक और सामाजिक दोनों हैं। उनकी प्रवृत्ति मनोवैज्ञानिक संघर्षों का सूक्ष्म-चित्रण करने की ओर है। इसमें सन्देह नहीं कि वर्माजी एक श्रेष्ठ एकांकी नाटककार हैं और हिन्दी में एकांकी नाटक को श्रेष्ठ कलात्मक रूप देने में उनका सबसे बड़ा योग है। उनके अधिकांश नाटक दुखान्त होते हैं और इसी कारण प्रभाव डालते हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क एक प्रतिभाशाली एकांकी नाटककार हैं। इनका सबसे पहला नाटक-संग्रह 'देवताओं की छाया में' सन् १९३८ में प्रकाशित हुआ था। उस समय से 'चरवाहे', 'तूफ़ान से पहले', 'कैद और उड़ान' आदि अन्य संग्रह प्रकाशित हुए। अश्कजी ने दुखान्त और सुखान्त दोनों प्रकार के सामाजिक और राजनीतिक एकांकी-नाटकों की रचना की है। हास्य और व्यंग्य-लेखन में वे सिद्धहस्त हैं। साथ ही गम्भीर मनोवैज्ञानिक संघर्ष का चित्रण करने में भी वे कम सफल नहीं हुए हैं। अश्कजी वर्तमान जीवन के वैषम्य पर तीखे व्यंग्य करते हैं जिस से उन की विद्रोही चेतना के दर्शन होते हैं।

उदयशंकर भट्ट का प्रथम एकांकी नाटक-संग्रह 'अभिनव एकांकी नाटक' नाम से सन् १९४० में प्रकाशित हुआ था। तब से अब तक 'आदिमयुग', 'समस्या का अन्त' 'धूमशिखा', 'स्त्री का हृदय', 'पर्दे के पीछे' आदि एकांकी-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। भट्टजी के एकांकी नाटक अधिकतर सामाजिक हैं, यद्यपि पौराणिक विषयों पर भी उन्होंने कई एकांकी लिखे हैं। उनके नाटकों में पात्रों के मन का अन्तर्द्वन्द्व स्वाभाविक रूप से

विकसित होता है, और अधिकतर उनके एकांकी दुखान्त होते हैं। सामाजिक वैषम्य का यह विषादान्त चित्रण मर्म को छू लेता है।

लक्ष्मीनारायण मिश्र हिन्दी के श्रेष्ठ नाटककारों में से हैं। इधर कुछ दिनों से उन्होंने एकांकी नाटक लिखने शुरू किए हैं और उनके पाँच ऐतिहासिक एकांकियों का संग्रह 'अशोक-वन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। मिश्रजी के नाटकों की शैली अत्यन्त स्वाभाविक और सूक्ष्म है। उनके ऐतिहासिक नाटकों की भाषा अन्य नाटककारों की तरह जान-बूझ कर कृत्रिम रूप से संस्कृत-गर्भित नहीं बनाई गई होती। इसी कारण उनके नाटकों की भाषा में प्रसाद गुण अधिक है।

जगदीशचन्द्र माथुर एक प्रतिभाशाली एकांकी नाटककार हैं। उन का पहला एकांकी 'भोर का तारा' सन् १९३७ में लगभग विद्यार्थी अवस्था में ही लिखा गया था और प्रयाग विश्वविद्यालय में कई बार अभिनीत हुआ था। इसी नाटक के नाम से उनके एकांकियों का प्रथम संग्रह प्रकाशित हुआ था। उसके बाद और कोई संग्रह अभी तक प्रकाशि नहीं हुआ है, यद्यपि हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में उनके एकांकी यदा-कदा छपते रहते हैं। श्री माथुर की सचेत दृष्टि आधुनिक जीवन के उस वैषम्य के आर-पार देखती है जो रूढ़िग्रस्त संस्कारों और नई सामाजिक प्रवृत्तियों के बीच एक जटिल और अविराम संघर्ष का जनक है। इसी कारण उनके नाटकों में एक प्रबुद्ध कलाकार के संयम के साथ मानव-स्वाभिमान को चोट पहुँचाने वाली अमानवीय, जर्जर मान्यताओं और लोकाचारों पर निर्मम प्रहार रहता है।

विष्णु प्रभाकर ने इधर अनेक एकांकी नाटक लिखे हैं। आपका पहला एकांकी संग्रह 'इन्सान' के नाम से प्रकाशित हुआ था। उसके पश्चात् उनका दूसरा संग्रह 'क्या वह दोषी था' प्रकाशित हुआ है। इसमें चार एकांकी नाटक हैं और चार रेडियो-रूपक हैं। श्री विष्णु प्रभाकर के सामाजिक नाटकों की एक विशेषता यह है कि वह वर्तमान समाज-व्यवस्था के ह्रास और आडम्बर का व्यंग्यपूर्ण चित्र उपस्थित करते

समय पात्रों की मानसिक प्रतिक्रियाओं का सूक्ष्म और स्वाभाविक चित्रण करते हैं और उन पात्रों के आडम्बर और रूढ़िग्रस्त स्वभाव के भीतर छिपी सहज मानवता को उद्घाटित कर देते हैं। उनके ऐतिहासक नाटकों में भी चरित्र-चित्रण और आन्तर्बाह्य द्वन्द्व का उद्देश्य मानव-आदर्शों और मूल्यों का उद्घाटन करना होता है। विष्णु जी इस सोद्देश्यता का आरोपण बाहर ने नहीं करते, बल्कि नाटकीय घटनाएँ स्वयं स्वाभाविक रीति से इस सोद्देश्यता को व्यक्त करती चलती हैं।

चार

●

उपन्यास का विकास—

आधुनिक उपन्यास साहित्य का एक नया और संश्लिष्ट रूप-विधान है, जिसका विकास सबसे पहले यूरोप में हुआ, भारत में नहीं। अनेक विद्वानों ने उपन्यास की परिभाषा देते हुए उसे 'आधुनिक युग का महाकाव्य' बताया है। इस कारण नहीं कि उपन्यास में पूर्वीय या पाश्चात्य काव्य-शास्त्र द्वारा निर्दिष्ट महाकाव्य की रचना-पद्धति का पालन होता है, बल्कि इसलिए कि इस रूप-विधान के अन्तर्गत रचनाकार को आधुनिक युग की संश्लिष्ट वास्तविकता के अनुरूप ही विषय-वस्तु, कथानक, चरित्र-चित्रण और व्यक्ति-पात्रों की मनोवैज्ञानिक स्थितियों और प्रतिक्रियाओं आदि की संश्लिष्ट और मूर्त्त-योजना करके समग्र जीवन को कलात्मक रूप से प्रतिबिम्बित करने का एक ऐसा साधन या माध्यम प्राप्त हुआ है जिसके क्षेत्र और संभावनाएँ अपरिसीमित हैं। साहित्य के इस नये माध्यम के विकास में कई शताब्दियाँ लग गईं। इसलिए हिन्दी-उपन्यास के विकास को समझने में पाश्चात्य उपन्यास-साहित्य और कला के विकास का संक्षिप्त परिचय लाभप्रद हो सकता है।

कथा-कहानी की परम्परा नई नहीं है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में 'पंचतन्त्र', 'हितोपदेश', 'बेताल पंचविंशति', 'सिंहासन द्वात्रिंशिका',

'शुक-सप्तति', 'कथा-सरित्सागर', 'बृहत्कथा-मंजरी' तथा 'कादम्बरी' और 'हर्ष-चरित' आदि कथाएँ और नीति-उपदेश की गल्पें हमें प्राप्त हैं, उसी प्रकार यूरोप के प्राचीन यूनानी (ग्रीक) साहित्य में भी ईसा से पहले और बाद की कथाएँ मिलती हैं। लातीनी (लैटिन) साहित्य में भी कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं किन्तु वास्तव में न रूप-विधान की दृष्टि से और न कथा-वस्तु और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से ही उन्हें आधुनिक उपन्यास की कोटि में रखा जा सकता है, यद्यपि आधुनिक उपन्यास के विकास में इन प्राचीन कृतियों को कथा-साहित्य की परम्परा की प्रारम्भिक कड़ी कहने में हमें कोई आपत्ति नहीं।

आधुनिक उपन्यास का वास्तविक विकास तो यूरोप के सांस्कृतिक जागरण के साथ ही शुरू होता है—सर्वप्रथम इटली से। सामन्ती-प्रथा के ह्रास और नवोत्थित व्यापारी-वर्ग की उन्नति का वह युग था। प्रारम्भिक इतालवी उपन्यासों में प्रेम और साहस की नैतिक और पौराणिक कहानियाँ होती थीं, जिनमें पतित स्त्रियों, दुराचारी पादरियों, असभ्य किसानों और कुलीन घरों के सामन्तों को पात्र बनाया जाता था। इटली के लेखक **बोकेशियो** की व्यंग और विनोदपूर्ण रचना 'डी केमरॉन' (१३४८) प्रारम्भिक युग की विश्वविख्यात रचना है। उसके बाद स्पेन के लेखक **सरवान्ते** ने सत्रहवीं शताब्दी के आरम्भ में 'डान क्विज़ोट्' (१६०५) की रचना की जिसने उपन्यास-साहित्य में एक क्रान्ति मचा दी। तदनन्तर लगभग एक शताब्दी के प्रयोगों के बाद फ्रान्स में रेबेले जैसी प्रतिभा का लेखक पैदा हुआ जिसने सन् १५३५ में 'गरगन्तुआ' लिखा और उसके बाद दो सौ वर्षों तक फ्रान्स में रोमानी और यथार्थवादी उपन्यासों की रचना होती रही। इन सब देशों के उपन्यास-साहित्य की परम्परा से प्रभाव ग्रहण करके अठारहवीं शताब्दी में अंग्रेजी उपन्यास का विकास हुआ और 'उपन्यास' आधुनिक अर्थ में अपनी प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ। स्वयं इंगलैण्ड में भी सोलहवीं शताब्दी के अन्त में उपन्यासों की रचना प्रारम्भ हो चुकी थी और अठारहवीं शताब्दी से पहले **सर फिलिप सिडनी** का

आश्रमों में छिप-छिपकर होने वाले दुराचारों का नग्न चित्रण किया है। वासना मनुष्य को कहाँ तक पशुता के गर्त में खींच ले जा सकती है, इस का सजीव वर्णन इस उपन्यास में मिलता है। शास्त्री जी की भाषा में ओज और प्रवाह तो है लेकिन लेखनी में आत्म-संयम का अभाव है, जिससे नग्न चित्रणों को भरने के लिए वे कथा के स्वाभाविक प्रवाह को विशृंखल करके फालतू प्रसंग ले आते हैं। इसीलिए आपके उपन्यास साधारण स्तर से अधिक ऊपर नहीं उठ पाते। हाल ही में प्रकाशित ऐतिहासिक उपन्यास 'वैशाली की नगरवधू' अपेक्षया अधिक सुगठित रचना है।

वृन्दावनलाल वर्मा एक सफल ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। आपने अपने उपन्यासों में अपनी जन्मभूमि बुन्देलखण्ड के इतिहास को पुनरुज्जीवित करने की कोशिश की है। अंग्रेज़ी के ऐतिहासिक उपन्यासकार स्कॉट (Sir Walter Scott) की तरह आपके उपन्यासों में भी यथार्थ-चित्रण के साथ-साथ रोमान्स और आदर्शवाद की पुट रहती है। 'गढ़ कुण्डार', 'विराटा की पद्मिनी', 'महारानी लक्ष्मीबाई' तथा 'मृगनयनी' आपके प्रसिद्ध उपन्यास हैं। सामाजिक उपन्यासों में 'कुण्डली-चक्र' और 'प्रत्यागत' अधिक प्रसिद्ध हैं। भाषा-शैली और चरित्र-चित्रण की दृष्टि से आप प्रेमचन्द की परम्परा में आते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासकारों में वृन्दावनलाल वर्मा के बाद राहुल सांकृत्यायन, हजारीप्रसाद्ध द्विवेदी और रांगेय राघव के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इनमें हजारीप्रसाद द्विवेदी का 'बाणभट्ट की आत्मकथा' हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों में सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। द्विवेदीजी ने ऐतिहासिकता और औपन्यासिक मार्मिकता दोनों का सफल निर्वाह किया है।

जैनेन्द्रकुमार सम्भवतः प्रेमचन्द के बाद हिन्दी के दूसरे सबसे श्रेष्ठ उपन्यासकार हैं; साथ ही विषय-वस्तु, शैली, प्रवृत्ति, भाषा तथा अन्य सभी दृष्टियों से आपका क्षेत्र प्रेमचन्द से भिन्न और मौलिक है। जैनेन्द्रकुमार ने समग्र देश और उसके सर्वत्र फैले ग्रामों को अपनी विषय-

वस्तु नहीं बनाया, बल्कि नगरों की गलियों में बसने वाले शिक्षित मध्यवर्गीय परिवारों के भीतर व्यक्ति-जीवन में उठने वाली मनोवैज्ञानिक समस्याओं को—उन समस्याओं को जो व्यापक जीवन में सामंजस्य न पाने से आत्मपीड़क कुण्ठाओं और असन्तोषों को जन्म देती हैं—आपने अपने उपन्यासों का विषय बनाया। चित्रण के क्षेत्र को इतना सीमित रखने के कारण ही आप व्यक्ति के आभ्यंतरिक जीवन में प्रेमचन्द से भी अधिक गहरे उतर सके हैं। जैनेन्द्र की भाषा और शैली भी अपनी है। उसमें प्रेमचन्द की-सी सहज स्वाभाविकता नहीं, किन्तु संक्षिप्त कथन की चुस्ती और तीव्र मार्मिकता अवश्य अधिक है।

आपने पुरुष और नारी के प्रेम की समस्या को आधारभूत मानकर परख, सुनीता, त्यागपत्र और कल्याणी में, मध्यवर्ग के जीवन में यह समस्या विभिन्न स्तरों पर किस रूप में उठती है, इस तथ्य को चित्रित किया है। परख की कट्टो, पति-प्रेम तथा त्याग की एक मूर्ति, एक आदर्श नारी है। भौतिक सीमाओं से उठकर वह अफ़लातूनी आध्यात्मिक स्तर पर प्रेम करती है। विधवा रहकर भी सधवा बनी रहती है। सामाजिक जीवन में पग-पग पर अपमान सहकर भी उसकी आत्मा विद्रोह नहीं करती, क्योंकि उसने अपने अहंकार और हृदय के साथ-साथ अपने प्रेम का भी उत्सर्ग कर दिया है। परन्तु 'सुनीता' इतनी गहरी आध्यात्मिक आदर्श-भावना के आवरण में वेष्टित रचना नहीं है। उसमें मानवीय दुर्बलताओं का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण है। सुनीता और हरिप्रसन्न दोनों के चरित्रों में एक असाधारणता है जो पाठक को आरोपित-सी लगती है। मध्यवर्ग की पढ़ी-लिखी नारी को जब पुराने संकीर्ण वातावरण में ही मनमाने आचरण की छूट मिल जाती है तो किसी भी असामान्य पुरुष के सम्पर्क में आने पर उसकी मनःस्थिति कितने भयंकर अन्तर्द्वंद्व का अखाड़ा बन जाती है—एक ओर पुरानी मान्यताएँ पाँव पकड़ती हैं तो दूसरी ओर हृदय की लालसाएँ नये अनुभव की उत्तेजनाओं का रस लेने को धकेलती हैं; तृप्ति और सन्तोष जीवन में दुर्लभ हो जाते

हैं; इस उपन्यास की यही समस्या है। 'त्यागपत्र' यथार्थवादी मनोवैज्ञानिक चरित्र-चित्रण की दृष्टि से एक श्रेष्ठ उपन्यास है। अपने विवाहित जीवन से असंतुष्ट मृणाल आत्म-रक्षा और स्वतन्त्र जीवन-यापन के लिए सामाजिक बन्धनों से संघर्ष करती है, किन्तु कठोर और विकराल परिस्थितियों के भँवर में फँसकर उसका एक रोगिणी के रूप में वीभत्स और दारुण अन्त होता है।

जैनेन्द्र के उपन्यासों में घटनाओं का ताना-बाना नाम-मात्र को, केवल आवश्यक भर होता है। आप अपने उपन्यासों में समस्या उठाते हैं और समस्या पर ही उनका अन्त करते हैं; समाधान के प्रत्यक्ष या परोक्ष इशारे भी नहीं देते। जीवन एक अनबूझ पहेली बन जाता है, इसी से आपके उपन्यासों में एक रहस्यात्मकता या दुरूहता का आभास मिलता है। जैनेन्द्र समाज को तोड़-फोड़ या बदलकर नहीं, बल्कि उसको ज्यों-का-त्यों स्वीकार करके, अपने को निरीह और छोटा बनाकर और आत्म-पीड़ा में ही सुख तलाश करके एक दुःसाध्य आध्यात्मिक सामंजस्य की टोह करते हैं। फिर भी आपने जीवन के कतिपय मौलिक प्रश्न उठाये हैं, जिससे साहित्य को आपकी देन स्थायी है।

इलाचन्द्र जोशी फ्रॉयड के मनोविश्लेषण, विज्ञान की पुस्तकों में दिये गए रुग्ण-मानस के व्यक्तियों के ब्यौरों से अपने उपन्यासों की कथा-वस्तु लेते हैं और फिर दृष्टान्त रूप में काल्पनिक पात्रों को उद्भावना करके उन्हें अपने चातुर्दिक सामाजिक जीवन में स्थापित करके कथा-सूत्र का निर्माण करते हैं। सामाजिक जीवन का वैषम्य व्यक्ति की काम-वासनाओं का दमन करता है और उसकी महत्वाकांक्षाओं को कुण्ठित, जिससे परिपूर्ति और परितृप्ति के साधारण मार्ग बन्द होने पर मन की अवचेतन और अर्धचेतन गुफाओं में ये वासनाएँ उमड़ती-घुमड़ती फूत्कारती रहती हैं, और मातृ-रति, स्व-रति और आत्म-केन्द्रित हीन-भावना जैसी 'कॉम्प्लैक्सों' को पैदा करके मनुष्य को विक्षिप्त और असामाजिक प्राणी बना देती हैं। 'फ्रॉयड' के इन्हीं सिद्धान्तों का चर्वित-चर्वण

इलाचन्द्र जोशी के उपन्यासों में मिलता है। व्यक्ति-मानस के अज्ञात कोनों में दबी पड़ी इन काम-प्रवृत्तियों का अध्ययन तथा चित्रण ही आपका उद्देश्य है। इसीलिए आपके पात्र समाज के नैतिक बन्धनों से विद्रोह करके, पूर्ण स्वच्छन्दता से अपने पाशविक और हिंस्र रूप में मानव-जीवन के समस्त पुनीत और मानवीय सम्बन्धों को ठुकराते हुए, केवल अपनी स्वार्थ-सिद्धि और काम-तृप्ति करते फिरते हैं। आपका उपन्यास 'प्रेत और छाया' ऐसे व्यक्ति की हीन प्रवृत्तियों का बीभत्स उदाहरण पेश करता है। उपन्यास का हीन भावनाओं से ग्रस्त नायक पारसनाथ पिता के यह बताने पर कि वह उनका अवैध पुत्र है, विक्षिप्त हो उठता है। अपनी माँ के सतीत्व भंग होने की बात जानकर वह समस्त स्त्री-जाति के सतीत्व पर ही सन्देह नहीं करने लगता है, बल्कि सबका सतीत्व खण्डित करने को उद्धत हो जाता है। फिर एक-एक करके वह अनेक स्त्रियों का सतीत्व हरण करता फिरता है। इसमें उसे पाशविक आनन्द मिलता है। किन्तु अन्त में ज्यों ही उसे पता चलता है कि पिता की बात गलत थी, और उसकी माँ साध्वी थी, त्यों ही वह आत्म-ग्लानि से भर जाता है और एक वेश्या से विवाह करके गृहस्थ-जीवन व्यतीत करने लगता है। ऐसे बीभत्स मनोवैज्ञानिक तिलिस्म जोशीजी के अन्य उपन्यासों में भी मिलते हैं। इधर अपने उपन्यास 'मुक्ति-पथ' में आपने दिशा बदली है। किन्तु जितने यान्त्रिक ढंग से आपने अपने विक्षिप्त पात्रों की कुत्सित काम-चेष्टाओं का पहले उपन्यासों में चित्रण किया है, उतनी ही यान्त्रिकता से 'मुक्ति-पथ' के राजीव को केवल देशोद्धार और श्रम में लगे एक भावना-हीन, प्रेम और काम से घृणा करने वाले अपरिग्रही अर्ध-मानव के रूप में आदर्श मण्डित करके चित्रित किया है।

भगवतीचरण वर्मा भी इलाचन्द्र जोशी की तरह फ्रॉयड से प्रभावित उपन्यासकार हैं और उसी यान्त्रिक ढंग से अपने पात्रों पर अपनी मान्यताएँ थोपते और उनसे मनचाहा व्यवहार करवाते चलते हैं। मनुष्य के विक्षिप्त, कुरूप, बीभत्स, अमानवीय, स्वार्थपर अवसरवादी रूप के

आप चित्रकार हैं। केवल आपका ऐतिहासिक उपन्यास 'चित्रलेखा' इसका अपवाद है। किन्तु वह एक मौलिक कृति दीखते हुए भी उतनी मौलिक नहीं है, बल्कि फ्रेन्च उपन्यासकार अनातोल फ्रान्स के विश्वविख्यात उपन्यास 'थाया' पर आधारित है। उसमें प्राचीन वातावरण में पाप, पुण्य, प्रेम, वासना आदि के प्रश्नों पर विचार किया गया है। चित्रलेखा का चरित्र उदात्त दिखाया गया है। समाज जिन्हें 'भोगी' समझता है, वास्तव में वही 'योगी' होते हैं। केवल मनुष्य के दृष्टिकोण का वैषम्य पाप और पुण्य की पृथक् परिकल्पनाएँ करता है, अन्यथा दोनों एक हैं या देश-काल सापेक्ष हैं। प्रेमचन्द, जैनेन्द्र या यशपाल की तरह वर्माजी सामाजिक अथवा व्यक्तिगत जीवन की कोई मौलिक समस्या नहीं उपस्थित करते, जिससे आपके उपन्यासों का वातावरण इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय के उपन्यासों की तरह कृत्रिम और पात्र यंत्र-चालित से दीखते हैं। आपके उपन्यास 'तीन वर्ष' में नई सभ्यता की चकाचौंध से पथ-भ्रष्ट हुए रमेश के भोग-विलास, जूआ, शराब, वेश्यागमन और मानसिक अशान्ति और विक्षिप्तता का निरुद्देश्य चित्रण है। 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' में वर्माजी ने राजनीतिक तथा सामाजिक पृष्ठ-भूमि का विशाल आडम्बर रचकर मनुष्य की देश-भक्ति, मानवप्रेम तथा दूसरी उदात्त भावनाओं के मूल में स्वार्थपरता, अधमता और हिंस्रता की सत्ता ही सिद्ध करनी चाही है और प्रेम, न्याय और समता के आदर्शों की हीनता सिद्ध करने के लिए समस्त प्रगतिशील विचारधाराओं पर आक्रमण किया है और अन्त में यह सिद्ध किया है कि मुक्ति का कोई मार्ग नहीं; सभी स्वार्थ-सिद्धि के टेढ़े-मेढ़े रास्ते हैं। वस्तुतः वर्मा जी ने इस उपन्यास में राष्ट्रीय जागरण की उदात्त परंपराओं को ठुकराकर सामन्त वर्ग की हिमायत की है, और वह भी गांधीवाद की आड़ लेकर। जमींदार रामनाथ और उनके तीन बेटों की यह लम्बी, नीरस और प्रकृतिवादी कहानी हिन्दी-उपन्यास के विकास में ह्रास और विकृति की मिसाल है। इसी प्रकार वर्मा जी का 'आखिरी दाँव' अत्यन्त साधारण उपन्यास है। उसमें एक जुआरी के

निष्फल-प्रेम को फिल्मों के-से रंगीन तिलस्मी वातावरण में चित्रित किया गया है।

'अज्ञेय' इलाचन्द्र जोशी और भगवतीचरण वर्मा की परंपरा के लेखक हैं, किन्तु उनसे अधिक सशक्त और परिष्कृत भाव-चेतना के उपन्यासकार हैं। आप पर मुख्यतः फ्रायड के मनोविश्लेषण-विज्ञान और अंग्रेज़ी के कवि टी० एस० ईलियट और उपन्यासकार डी० एच० लारेंस का प्रभाव पड़ा है। हिन्दी आलोचक श्री नलिन विलोचन शर्मा का अनुमान है कि अज्ञेय ने फ्रॉयड-लारेंस आदि से उपादान लेकर अंग्रेज़ी उपन्यासकार कोनार्ड की प्रत्यग्दर्शन की शैली में 'शेखर : एक जीवनी' को लिखा है, लेकिन उनका प्रयोग असफल हुआ है। 'शेखर' का स्थापत्य तो कमज़ोर है ही, लेखक अपने प्रधान पात्र के साथ आवश्यक निर्लिप्तता भी नहीं बरत पाया, जिससे उसका स्वतन्त्र चरित्र-निर्माण भी नहीं हो सका। 'शेखर : एक जीवनी' में उसकी बाल्यकाल से लेकर यौवनकाल तक की आत्मकथा है। शेखर प्रारंभ से अहंभावना, भय तथा 'सेक्स' की जिज्ञासाओं से आक्रान्त है। माता-पिता उसकी जिज्ञासाओं को दबाते हैं तो उसकी आत्मा विद्रोही बन जाती है। समाज, धर्म, ईश्वर, नैतिकता, सबके प्रति उसके मन में तीव्र अनास्था पैदा होती है। सबसे पहले अपनी बहन सरस्वती के प्रति वह आकृष्ट होता है, किन्तु सामाजिक मर्यादा के अनुसार बहन ऐसे आकर्षण-क्षेत्र से वर्जित है। इसके बाद शेखर के जीवन में एक-एक करके कई नारियाँ आती हैं। शशि से तो उसकी गहरी आत्मीयता भी है। किन्तु वह आतंकवाद के जुर्म में गिरफ्तार कर लिया जाता है। उसके मन में इसकी प्रतिक्रिया एक बौद्धिक घृणा का स्वरूप लेती है। वह हर प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों को हेय समझ कर उनसे विरक्त हो जाता है। रिहा होने पर पता लगता है कि शशि का विवाह हो गया है। पति उसे जब त्याग देता है तब वह पुनः शेखर पर अपनी अनुरक्ति प्रकट करती है, किन्तु शेखर अब पहले का शेखर नहीं रहा—वह नारी-मात्र से विमुख हो

चुका है। शशि बेचारी तपेदिक से घुल-घुलकर प्राण देती है, और इस प्रकार शेखर का 'विद्रोहीपन' प्रमाणित हो जाता है।

शेखर विद्रोही है—'सृष्टि के प्रति, क्योंकि वह अधूरी और अपूर्ण है; समाज के प्रति, क्योंकि वह संकीर्ण है; समस्त रीतियों तथा संस्थाओं के प्रति...अपने व्यक्तित्व के प्रति...' इस असामाजिक, अराजक, उद्धत और उच्छृंखल विद्रोह का कहीं अन्त नहीं। किन्तु व्यवहार में शेखर विद्रोही नहीं है। वह एक कुण्ठित, घोर आत्म-केन्द्रित, अन्तर्मुखी पात्र है जो अपनी कुण्ठित भावनाओं की छानबीन करने में ही लीन रहता है। अपने मन के भीतर वह जितना बड़ा विद्रोह-सत्व है, बाह्य-जीव में वह उतना ही अवसरवादी और आत्म-भीरु भी है। वर्तमान जीवन की विषमताओं ने ऐसे कुण्ठित और खण्डित व्यक्तित्व पैदा किये हैं, इसमें सन्देह नहीं, और यदि अज्ञेय ने एक कलाकार की निस्संगता बरतकर अपनी ओर से शेखर को एक अति-मानव की थोथी महिमा से मण्डित न किया होता, तो सचमुच 'शेखर' आधुनिक जीवन की एक मौलिक समस्या का श्रेष्ठ और यथार्थ चित्र बन जाता। अज्ञेय का 'नदी के द्वीप' एक मनोविश्लेषणात्मक उपन्यास है। कोई मौलिक समस्या यहाँ भी नहीं है। भुवन और रेखा, भुवन और गौरा का प्रणय-व्यापार कहीं कोई मनोवैज्ञानिक पेचीदगी या समस्या नहीं उठाता। भुवन भी शेखर ही की तरह असाधारण और महान् है, और रेखा और गौरा उसके प्रति समर्पित होने में और भुवन यथावसर रेखा, फिर गौरा के प्रति समर्पित होने में ही जीवन की चरम सार्थकता पाते हैं। इस अर्पण-प्रत्यार्पण के बीच कहीं कोई बाह्य या आन्तरिक बाधा नहीं आती और ईलियट और लारेंस की अंग्रेजी कविताओं के उद्धरणों की आवृत्ति-प्रत्यावृत्ति के बीच सुरम्य स्थानों के रोमानी वातावरण में तन-मन के 'समर्पण' का यह व्यापार निर्विघ्न घटित भी होता जाता है। किन्तु फिर भी 'नदी के द्वीप' एक कलाकृति नहीं बन पाया, क्योंकि इसमें हिन्दी के प्रौढ़तम गद्य की छटा के अतिरिक्त पाठक को वास्तविक जीवन

का स्पर्श कहीं नहीं मिलता; उसमें जीवन का कोई सत्य उद्घाटित नहीं होता।

यशपाल प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा के समर्थ कथाकार हैं। आपने उपन्यास के माध्यम से युग-जीवन और उसके संघर्षों को आकलित करने का प्रयत्न किया है। एक कथाकार के रूप में यशपाल का उद्देश्य वर्तमान समाज की जर्जर मान्यताओं के खोखलेपन को उघाड़कर सामने रखना रहा है। इसके लिए आपमें एक यथार्थवादी कलाकार की निस्संगता, और संयम भी पर्याप्त है। आप अपने यथार्थवाद में प्रेमचन्द की तरह आदर्श का नहीं, रोमान्स का संयोग करते हैं, जो सब जगह सफल नहीं हुआ है, कथा पर आरोपित या उसमें क्षेपक की तरह जुड़ा हुआ लगता है। इसीलिए कुछ आलोचक आप पर 'राजनीतिक रोमांस' लिखने का आरोप लगाते हैं। वस्तुतः बात यह है कि आपने अपने मार्क्सवादी दृष्टिकोण के व्यापक सांस्कृतिक और सौन्दर्य पक्ष को उतना नहीं पहचाना जितना आर्थिक पक्ष को, जिससे आप मनुष्य की समस्त समस्याओं को स्थूल 'शिश्नोदर' की समस्या के रूप में संकीर्ण बना देते हैं। इसी से आपके यथार्थवाद की सीमाएँ बँध जाती हैं, और आपको अपनी कथाओं को मनोरंजक बनाने के लिए नग्न-प्रसंगों की भरती करनी पड़ती है। शरत्चन्द्र के प्रसिद्ध उपन्यास 'पथेर दावी' के जवाब में लिखे आपके उपन्यास 'दादा कामरेड' में शैल को नग्न कराने का प्रसंग कुछ ऐसा ही है। जैनेन्द्र ने भी 'सुनीता' को एक स्थान पर नग्न करवाया है। यशपाल के 'देशद्रोही' में मध्यवर्ग के एक बुद्धिजीवी का चित्र है जो अपनी अनेक मानसिक उलझनों के बावजूद मज़दूर आंदोलनों की ओर आकृष्ट होता है। नायक खन्ना सीमाप्रान्त में फ़ौजी अस्पताल में डाक्टर है। कबीले द्वारा अपहृत किये जाने पर वह पठानों के बीच रहता है, पठान-सुन्दरियों से प्रेम करता है, लेकिन उसकी आत्मा 'व्यक्ति से समाज की ओर' जाने के लिए छटपटाती है। वह रूस भाग निकलता है; लौटकर कानपुर के मज़दूर आंदोलन का नेतृत्व सँभालता है। पठान-

सुन्दरियों के प्रेम में आत्मविस्मृति की मदिरा थी, शान्ति नहीं। शान्ति मिली उसे चन्दा के प्रेम में। किन्तु चन्दा विवाहिता थी। डा० खन्ना की बीमारी में उसकी परिचर्या करने के कारण उसे अपने पति से लांछित और अपमानित होना पड़ता है। डा० खन्ना तड़प-तड़पकर प्राण दे देता है। 'देशद्रोही' एक सशक्त और सुगठित उपन्यास है और मध्य-वर्ग के जीवन पर पूरी रोशनी डालता है। अपनी समस्त कुण्ठाओं और सीमाओं के बावजूद डा० खन्ना का चरित्र उदात्त है, और पाठकों की सहानुभूति खींचता है। 'दिव्या' यशपाल का ऐतिहासिक उपन्यास है। बौद्धधर्म के ह्रास, वर्णाश्रम धर्म के पुनरुत्थान, ब्राह्मणों के षड्यन्त्र और दासों के विद्रोह की प्राचीन सामन्ती पृष्ठभूमि में यशपाल ने नारी-चरित्र का विकास दिखाया है। सामन्ती समाज में नारी केवल वासना-पूर्ति का साधन है। केवल वेश्या ही स्वतन्त्र नारी है। 'दिव्या' जनपद कल्याणी मल्लिका की शिष्या है। पृथुसेन, रुद्रधीर और चार्वाक मारिश तीनों दिव्या के प्रणय-प्रार्थी हैं। वह पृथुसेन को आत्म-समर्पण करती है। किन्तु पृथुसेन गणपति की पौत्री से विवाह कर लेता है, और गर्भवती दिव्या एक मांस-विक्रेता के हाथों में जा पड़ती है। बौद्ध संघ उसे शरण नहीं देता। आत्महत्या का प्रयत्न भी विफल होता है। विवश हो उसे वेश्या-वृत्ति करनी ड़ती है। मल्लिका उसे वापस ले जाकर कला की अधिष्ठात्री बनाती है, पर समाज को यह सह्य नहीं होता। वह नगर के बाहर की पान्थशाला में शरण लेती है। तीनों प्रेमी फिर याचक बनकर सामने आते हैं। भिक्षु पृथुसेन उसे 'संघ की अपार करुणा' का वचन देता है। आचार्य रुद्रधीर उसे 'महादेवी' का आसन देने को तत्पर है। पर चार्वाक मारिश 'नारीत्व की कामना में अपना पुरुषत्व अर्पण करता है। वह आश्रय का आदान-प्रदान चाहता है...सन्तति की परम्परा के रूप में अमरत्व दे सकता है।' दिव्या उसे ही स्वीकार करती है। 'दिव्या' की काल्पनिक कथा को ऐतिहासिकता का वातावरण देने के लिए यशपाल ने अत्यन्त परिश्रम से एलोरा-अजन्ता के चित्रों तथा उस युग की शब्दावली,

वेष-भूषा आदि का अध्ययन किया है। किन्तु 'दिव्या' में यह 'आश्रय के आदान-प्रदान' की उदात्त लगने वाली भावना यशपाल के अगले उपन्यास 'मनुष्य के रूप' में नारी-समस्या पर लेखक का एकांगी 'दृष्टि-कोण' बनकर सामने आती है। 'मनुष्य के रूप' की सामाजिक पृष्ठभूमि विस्तृत है। घटनाओं का चित्रण बहुत-कुछ यथार्थवादी शैली में है। उपन्यास की नायिका सोमा कांगड़े ज़िले की एक गरीब तरुण विधवा है। पति युद्ध में मारा गया है। ससुराल में यातनाएँ भोगकर उसका जीवन असह्य हो उठा है। धनसिंह ड्राइवर से प्रेम होने पर वह उसके साथ भाग निकलती है। फिर आश्रय का मूल्य चुकाने के लिए बैरिस्टर साहब, और बम्बई पहुँचकर बरकत ड्राइवर को भी आत्म-समर्पण करती है। फिर वेश्यावृत्ति के असफल प्रयत्नों के बाद फ़िल्म-जगत् की 'हीरो-इन' बन जाती है और डायरेक्टर सुतली वाला के साथ उसका विवाह तय हो जाता है। वह इस सामाजिक सुरक्षा के वातावरण में अपने अतीत को अपनाने से इन्कार करती है, और युद्ध और जेल से रिहा होकर लौटे धनसिंह को पहचानती भी नहीं। यशपाल का कहना है कि "मौजूदा समाज में प्रेम एक सौदा मात्र है। नारी जीवन-यापन के लिए एक आश्रय चाहती है, जिसे प्रेम का नाम दिया जाता है।" यह आश्रय उसे रूप-विक्रय से ही सुलभ होता है।

यदि इस एकांगी दृष्टिकोण का आरोप हटाकर देखा जाय तो 'मनुष्य के रूप' आधुनिक जीवन की एक मौलिक समस्या को उद्घाटित करता है। पूँजी की सत्ता वाले समाज में 'प्रेम' की निष्कलुष मानवीय भावना किस प्रकार विकृत होकर व्यावसायिक रूप धारण कर लेती है, 'मनुष्य के रूप' इसका सजीव चित्र है।

उपेन्द्रनाथ अश्क भी प्रेमचन्द की यथार्थवादी परम्परा के उपन्यास-कार हैं। उनका पहला उपन्यास 'सितारों के खेल' था जिसकी कथावस्तु रोमानी है। किन्तु 'गिरती दीवारें' में रोमानी वातावरण की जगह जीवन के कठोर यथार्थ ने ले ली है। इसमें निम्न-मध्यवर्ग के जीवन

का व्यापक चित्रण है। 'गिरती दीवारें' का नायक चेतन निम्न-मध्यवर्ग के जीवन का प्रतीक है। चेतन एक ऐसे साधारण, असंस्कृत और रूढ़ि-ग्रस्त परिवार में पैदा हुआ जहाँ 'चीकने पात' वाले 'होनहार बिरवा' भी जीवन की दुर्द्धर्ष विषमताओं के वर्षा-आतप-घाम में रुक्ष और धूल-धूसरित दिखाई देते हैं। इसीलिए उसके सामने पहली समस्या जीने की है। जीने के लिए उसे विपरीत परिस्थितियों से विकट संघर्ष करना पड़ता है। संघर्ष के इस दीर्घ पथ पर साहस-पूर्वक चलने में ही कठोर जीवनानुभावों की शिला से बार-बार टकराकर चेतन 'चेतन' बनता है और अपनी प्रतिभा और संवेदना को उत्तरोत्तर अधिक तीव्र, मानवीय और सामाजिक बनाता है। 'गिरती दीवारें' में साधारण घटनाओं से निर्मित चेतन का साधारण पर वैविध्य-पूर्ण और जटिल-जीवन अपने वातावरण की सम्पूर्ण और सजीव रूप-रस-गन्धमय चित्रात्मकता के साथ प्रतिबिम्बित हो उठा है। चेतन और उसके उग्र, कठोर, शराबी पिता शादीराम, आत्मभीरु, त्याग, सेवा और ममता की मूर्ति माँ लज्जावती, नवागत यौवन और सौन्दर्य से दीप्त नीला, सरल-हृदया पत्नी चन्दा, धूर्त वैद्यराज रामदास और दर्जनों दूसरे पात्रों का चरित्र-चित्रण स्वाभाविक, सजीव और मार्मिक है। साथ ही इलावलपुर, जालन्धर, लाहौर और शिमला के उन स्थानों का वर्णन भी अत्यन्त सजीव है जहाँ पर उपन्यास में वर्णित घटनाएँ घटी हैं। अपने नये उपन्यास 'गरम राख' में 'अश्क' जी की कला प्रकृतवादी हो गई है, जो ह्रास का लक्षण है।

राहुल सांकृत्यायन एक ऐतिहासिक उपन्यासकार हैं। इनके ऐतिहासिक उपन्यासों में 'सिंह सेनापति', 'जय-यौधेय' और 'मधुर-स्वप्न' उल्लेखनीय हैं। राहुल जी वृन्दावनलाल वर्मा की तरह इतिहास के प्रमुख व्यक्तियों को अपने उपन्यासों का पात्र नहीं बनाते, बल्कि उनका उद्देश्य विभिन्न प्राचीन सांस्कृतिक और सामाजिक युगों में मनुष्य के विकास की कहानी को चित्रित करना होता है। इसके लिए वे ऐतिहा-

सिक और प्रागैतिहासिक युगों के विशिष्ट समाजों और उनके निर्माण में भाग लेने वाले विशिष्ट और साधारण जनों का कल्पनाजन्य चित्र प्रस्तुत करते हैं। आधुनिक पूँजीवादी वर्ग-समाज के रूढ़ि-ग्रस्त, प्रतिबन्ध-ग्रस्त जीवन की तुलना में प्राचीन वर्ग-रहित मानव-समाज का जीवन कितना उन्मुक्त और स्वच्छन्द था, इसकी कल्पना को मूर्त्त करने के लिए राहुल जी अपने उपन्यासों में जिन जीवन-परिस्थितियों की सृष्टि करते हैं, वे कहीं-कहीं आरोपित-सी लगती हैं। कहीं-कहीं प्राचीन के प्रति एक दौहार्द्र-भावना सी प्रकट होती है और बहुधा ऐसा लगता है मानो एक वर्ग-मुक्त, स्वच्छन्द समाज की एक मात्र कसौटी यौन-स्वातंत्र्य ही हो। किन्तु इन त्रुटियों के बावजूद उनके उपन्यासों में प्राचीन मानव-संस्कृति और समाज के ऐतिहासिक विकास की सुन्दर झांकी रहती है।

रांगेय राघव हिन्दी के प्रमुख उपन्यासकारों में सबसे तरुण हैं। आपने सामाजिक और ऐतिहासिक दोनों प्रकार के उपन्यास लिखे हैं, जिनकी संख्या बीस-बाईस है। इनमें लघु और बृहद् दोनों आकार के उपन्यास हैं। 'घरौंदे' उनका पहला उपन्यास है, जिसमें कालेज के विद्यार्थी-जीवन की विविध झाँकियों को चित्रित किया गया है। अपनी इस विशेषता के कारण ही इस उपन्यास का स्वागत हुआ। भगवती चरण वर्मा के बृहद्-काय उपन्यास 'टेढ़े-मेढ़े रास्ते' के उत्तर में उन्होंने उतना ही बृहद्-काय उपन्यास 'सीधे-साधे रास्ते' लिखा। यह उपन्यास के रूप में वर्मा जी की राजनीतिक मान्यताओं का प्रगतिवादी उत्तर था। 'मुर्दों का टीला' संभवतः रांगेय राघव का अब तक का सबसे महत्वपूर्ण ऐतिहासिक उपन्यास है, जिसमें उन्होंने मोहेन-जो-दड़ो के समय के अज्ञात सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन की कल्पनाजन्य कहानी कही है। इस प्रागैतिहासिक सभ्यता पर साहित्यिक कल्पना का यह हिन्दी में पहला उपन्यास है। अभी रांगेय राघव अबाध गति से लिख रहे हैं, इसलिए उनकी रचनाओं में अति-लेखन के दोष भी हैं और उनकी बहुमुखी प्रतिभा का स्फुरण भी।

संक्षेप में हिन्दी के उपन्यास-साहित्य का यही परिचय है। प्रेमचन्द के बाद हमारे राष्ट्रीय-जीवन की विसंगतियाँ और भी उभर कर सामने आ गई हैं, जिससे वह पहले जैसी सर्वजनीन ऐक्य-भावना नहीं रही। इस विशृंखलता और वैषम्य के वातावरण में हमारा कथा-साहित्य अनेक विरोधी प्रवृत्तियों की राहों में बंट गया है। कोई सामान्य लक्ष्य और उद्देश्य नहीं है, इसीलिए जनवादी और जनद्रोही, वस्तुनिष्ठ और आत्मनिष्ठ, सामाजिक और अराजक प्रवृत्तियाँ उपन्यास-साहित्य में विभिन्न लेखकों के अपने-अपने दृष्टिकोणों के अनुसार अभिव्यक्ति पा रही हैं और आपस में टकरा रही हैं। हमारा राष्ट्रीय-जागरण एक संक्रान्तिकालीन दुरभि-संधि के अन्तर्द्वन्द्व में फँसकर अपनी पूर्णाभिव्यक्ति के लिए छटपटा रहा है।

पाँच

●

कहानी का विकास

उपन्यास की तरह 'कहानी' गद्य-साहित्य का कोई नया रूप-विधान नहीं है। प्रागैतिहासिक काल से मनुष्य की प्रत्येक जाति में कहानियों की सृष्टि होती आई है, चाहे मौखिक लोक-कथाओं के रूप में या लिखित साहित्यिक कहानियों के रूप में। इन प्राचीन कहानियों से आधुनिक कहानी का क्रमागत सम्बन्ध भी ढूँढ़ा जा सकता है। प्राचीन कहानियाँ साधारण वर्णनात्मक शैली में सम्पूर्ण जीवन-वृत्त को संक्षेप में उपस्थित करती थीं। उनमें कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, किसी विशेष मानसिक द्वन्द्व या स्थिति का चित्रण कम होता था। उन्हें सुनकर कहानी कहने वाले ने 'क्या कहा', इस जिज्ञासा ही की पूर्ति होती थी, लेकिन 'कैसे ढंग से कहा' इस पर विशेष ध्यान न जाता था। नीति, व्यवहार तथा जीवन के स्थूल पर सारपूर्ण घटना-संवलित व्यापारों तथा मनोगत भावों के सहारे ही कलात्मक रीति से कहानी कह दी जाती थी और इस प्रकार मनोरंजन के साथ-साथ उसके द्वारा नीति, धर्म या जीवन के किसी सत्य या रहस्य का उद्घाटन, प्रतिपादन या प्रचार किया जाता था। स्पष्ट ही 'आधुनिक कहानी' में भी ये तत्त्व यत्किंचित् मात्रा में मिलते हैं, जिसके आधार पर हम प्राचीन कहानी से आधुनिक कहानी के क्रमागत सम्बन्ध खोज

सकते हैं। किन्तु 'आधुनिक कहानी' का उद्देश्य, कथावस्तु, रचनातन्त्र, शैली, ढंग, सभी कुछ बदल चुका है। अब कहानी का क्षेत्र अतीत में 'क्या हुआ था' की जगह आज हमारे बाह्य और आन्तरिक जीवन में 'क्या हो रहा है, कैसे हो रहा है, क्यों हो रहा है' आदि हो गया है। इस मूलभूत परिवर्तन से उसके पाठक की जिज्ञासाओं में भी परिवर्तन आ गया है। पाठक आज कहानी के माध्यम से जीवन-मर्म की गहरी-से-गहरी अभिव्यक्ति और अनुभूति प्राप्त करना चाहता है।

कहानी क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर कहानी की परिभाषा देकर नहीं किया जा सकता क्योंकि प्रवाहमान जीवन की तरह 'कहानी' में भी, जो जीवन की किसी मार्मिक घटना, मनोगत भावना, अनुभव या सत्य को चयन और अतिरंजन की कलात्मक रीति से संक्षेप में प्रतिबिम्बित करती है, इतनी विविधता आ गई है कि उसे किसी सरल परिभाषा में बाँधना असम्भव है। कहानी की सबसे बड़ी परिभाषा यह है कि वह 'कहानी' है, गल्प नहीं है, मात्र घटना का चित्रण नहीं है, रेखाचित्र, उपन्यास और नाटक भी नहीं है। कहानी गल्प नहीं है, क्योंकि गल्प एक सरल विवरण-मात्र होता है। हम दिल्ली से कलकत्ते गये, इस यात्रा के मात्र विवरण को 'कहानी' नहीं कह सकते। परन्तु इस 'यात्रा' को कलाकार कहानी के रूप में डाल सकता है, यह यात्रा कहानी का उपकरण बन सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि जीवन में जो घटनाएँ घटित होती हैं, उनका यथा-तथ्य सिलसिलेवार विवरण ही कहानी नहीं बन जाता, लेखक को इस विवरण में से सार्थक प्रसंगों का चयन करके उन्हें कहानी के रूप में ढालना पड़ता है। इसीलिए कहानी मात्र घटना या वार्तालाप का ज्यों-का-त्यों अंकन नहीं है, न केवल चुटकला है कि सुना दिया और हास्य का उद्रेक हो गया, क्योंकि चुटकले में कथा-वस्तु का जटिल उद्घाटन और नाटकीय प्रभाव सम्भव नहीं है। कहानी रेखाचित्र भी नहीं है, क्योंकि रेखाचित्र में किसी चित्र का अंकन ही प्रधान होता है, लेकिन कहानी में पृष्ठभूमि का चित्र

कार्य-व्यापार के संघटन और विकास के लिए ही आवश्यक होता है, अतः उसका स्थान गौण है। यह कार्य-व्यापार अनिवार्यतः बाह्य स्थूल जीवन से ही सम्बन्ध रखता हो, यह जरूरी नहीं। कहानी अपने घटना-विन्यास और कार्य-व्यापार के उद्घाटन के लिए मनुष्य के मानसिक अन्तर्द्वन्द्व को भी उतनी ही सफलता से चुन सकती है। कहानी 'उपन्यास' भी नहीं है क्योंकि उपन्यास का क्षेत्र समग्र जीवन है, कहानी मनुष्य के समग्र जीवन में से केवल किसी एक मार्मिक घटना को ही अपना विषय बनाती है। इसी प्रकार कहानी नाटक नहीं है, यद्यपि उसमें नाटकीय तत्त्व होते हैं। किसी निर्णायक घटना-सूत्र की ओर कहानी की कथा भी अनुधावित होती है। किन्तु नाटक की कथा को मूलतः नाटकीय होने की ज़रूरत होती है और नाटककार को केवल 'संवादों' के द्वारा कार्य-व्यापार का विकास और कथानक का उद्घाटन करना होता है। कहानीकार कथा को अपने उद्देश्य के अनुरूप जहाँ चाहे मोड़-तोड़ सकता है और घटनाओं और पात्रों को वातावरण की पृष्ठभूमि के सूक्ष्म प्रभावों से जैसे चाहे वैसे उभार सकता है। अतः इन सब से इतर कहानी क्या है, यह जानने के लिए किसी सरल परिभाषा का आश्रय लेने की ज़रूरत नहीं है। कहानीकार की अपनी रुचि, जीवनानुभव की विशिष्टता, सूक्ष्मदर्शिता और व्यापकता के अनुसार कहानी कहने के अनेक ढंग, उद्देश्य और शैलियाँ हो सकती हैं। यद्यपि हिन्दी की 'आधुनिक कहानी' को विकसित हुए लगभग चालीस वर्ष ही हुए हैं, फिर भी उनमें इतनी विविधता है कि उनकी चारित्रिक विशेषताओं को एक सूत्र में बताना असम्भव है। ऐसी कहानियाँ भी हैं जो नीति और उपदेश की हैं, और इस सीमा तक प्राचीन कहानियों के तत्व उनमें अधिक हैं; ऐसी कहानियाँ भी हैं जिनमें बाह्य सामाजिक जीवन की कोई समस्या उपस्थित की गई है, या आन्तरिक जीवन पर उसका प्रभाव दिखाया गया है; ऐसी कहानियाँ भी हैं जिनमें स्थानीय वातावरण और रंग अधिक मुखर है; ऐसी कहानियाँ भी हैं जिनमें मनुष्य

की कल्पना की उड़ान दिखाई गई है या किसी मनोवैज्ञानिक संघर्ष को चित्रित किया गया है; और ऐसी भी हैं जिनमें विभिन्न परिस्थितियों में पड़े मनुष्यों के मनोभावों का आकलन हुआ है या पात्रों का चरित्र-चित्रण किया गया है। इसी प्रकार कहानी में प्रतिपाद्य विषय के प्रति कहानीकार के दृष्टिकोण और शैलियाँ भी विविध हो सकती हैं। कोई कथा-वस्तु को रोमाण्टिक ढंग से उपस्थित करता है तो कोई यथार्थवादी ढंग से; कोई मनोवैज्ञानिक ढंग से तो कोई प्रकृतवादी, यथातथ्यात्मक रीति से। इसके अतिरिक्त जीवन के प्रति लेखक का दृष्टिकोण आशावादी या निराशावादी भी हो सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि अन्तर्बाह्य जीवन और प्रवृत्ति के किसी भी क्षेत्र से कथावस्तु के उपादान चुनकर कहानीकार कहानी का निर्माण और उसके माध्यम से जीवन-मर्म का उद्‌घाटन और आकलन कर सकता है। शर्त केवल इतनी है कि कहानी बनने के लिए उसमें 'कहानीपन' होना चाहिए। यह 'कहानीपन' क्या है ? इसकी कोई शास्त्रीय व्याख्या या 'कहानीपन' लाने का कोई सरल नुस्खा पेश करना न यहाँ प्रासंगिक होगा, और न उचित ही, क्योंकि अन्ततः यह कहानीकार की क्षमता, व्यापक जीवनानुभव, संवेदनशीलता और सत्यान्वेषी दृष्टि पर निर्भर करता है कि वह साधारण घटनाओं के बीच से अर्थवान और मार्मिक प्रसंगों को चुनकर किस प्रकार कलात्मकता से उपस्थित करे कि वह कहानी बन जाय। उससे मनोरंजन भी हो, चेतना को स्फूर्ति और प्रेरणा भी मिले और पाठक की संवेदना जीवन के किसी सत्य की अनुभूति करके अधिक मानवीय और समृद्ध भी बने।

हिन्दी में आधुनिक कहानी की परम्परा का सूत्रपात और विकास जयशंकर प्रसाद की कहाबी 'ग्राम' और प्रेमचन्द की कहानी 'पंच परमेश्वर' से होता है। प्रसाद की कहानी सन् १९११ में 'इन्दु' में छपी थी और प्रेमचन्द की कहानी सन् १९१६ में प्रकाशित हुई। 'ग्राम' और 'पंच परमेश्वर' की अन्तरावधि में **राधिकारमणप्रसादसिंह, विश्वम्भर शर्मा 'कौशिक'** और **चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** भी क्रमशः 'करनों का कँगना'

(१६१३), रक्षा-बन्धन (१६१३) और 'उसने कहा था' (१६१५) लेकर कहानी-जगत् में अवतीर्ण हो चुके थे, किन्तु इस प्रवृत्ति की कहानियों को वास्तविक उत्कर्ष दिया प्रेमचन्द ने ही और ये कहानीकार प्रेमचन्द के अनुगामी बने न कि प्रेमचन्द इनके। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इन्शा अल्ला खाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' (१८०३) लिखी थी। कुछ लोग इसे ही हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी कहते हैं, और तभी से हिन्दी-कहानी के विकास की परम्परा स्थापित करने की चेष्टा में 'उत्थानों' 'प्रत्यावर्तनों' की बात करते हैं। 'रानी केतकी की कहानी' को हिन्दी की प्रथम मौलिक कहानी मानने में हमें आपत्ति है। सरल और ठेठ खड़ी बोली की कहानी होने पर भी उसकी भाषा की प्रवृत्ति उर्दू की है, हिन्दी की नहीं। इसलिए इंशा की कहानी को आरम्भ-बिन्दु बनाकर हिन्दी-कहानी के 'उत्थानों-प्रत्यावर्तनों' की बात चलाना व्यर्थ है। पूरी उन्नीसवीं शताब्दी में केवल एक-दो कहानियाँ ही लिखी गईं। एक राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' की उपदेशात्मक कहानी 'राजा भोज का सपना' और दूसरी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की हास्य-रस प्रधान कहानी 'अद्भुत अपूर्व सपना'। इसके बाद यद्यपि उपन्यास अनेक लिखे गए, लेकिन कहानी बीसवीं शताब्दी में आकर ही लिखी गईं। सन् १६०० में प्रयाग से 'सरस्वती' का प्रकाशन शुरू हो गया था, जिसका सम्पादन आगे चलकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया और हिन्दी भाषा और साहित्य के हर क्षेत्र में एक क्रान्ति ला दी। १६०० में सरस्वती में किशोरी लाल गोस्वामी की कहानी 'इन्दुमती' प्रकाशित हुई जो शेक्सपियर के नाटक 'टेम्पेस्ट' की कथा पर आधारित थी। तदनन्तर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का सपना' (१६०३), श्रीमती बंग महिला की 'दुलाई वाली' (१६०७), 'जम्बुकी न्याय' (१६०६), वृन्दावनलाल वर्मा की 'राखी बन्द भाई' (१६०६), मैथिलीशरण गुप्त की 'नकली किला' (१६०६) और 'निन्यानवे का फेर' (१६१०) आदि कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुईं। किन्तु इनमें कितनी मौलिक थीं, कितनी नहीं, इस

पचड़े में न भी पड़ें, तो भी इतना तो स्पष्ट है कि इन कहानियों में 'आधुनिक कहानी' के तत्त्व मौजूद नहीं थे और न इनमें से किसी लेखक में प्रथम कोटि के कहानीकार की प्रतिभा ही थी कि हिन्दी में नई कहानी की परम्परा का सूत्रपात और विकास करता। इसलिए कहानी-क्षेत्र के इन मौलिक या अनुकरण-मूलक प्रयोगों को यदि प्रारम्भिक मान लें, जैसा कि सर्वथा उचित होगा, तो हिन्दी में 'आधुनिक कहानी' का सूत्रपात और विकास करने का श्रेय जयशंकरप्रसाद और प्रेमचन्द को है। यहाँ इतना उल्लेख कर देना और ज़रूरी है कि प्रसाद और प्रेमचन्द ने जिस समय कहानी लिखना शुरू किया, उस समय हिन्दी में बंगला कहानियों का दौर-दौरा था। अनुवाद होकर रवीन्द्र और शरत् की कहानियाँ सर्वत्र चाव से पढ़ी जाती थीं। अंग्रेजी और रूसी कहानियों के अनुवाद भी छपने लगे थे।

सन् १९११-१६ से लेकर आज तक हिन्दी में सहस्रों कहानियाँ लिखी जा चुकी हैं। हिन्दी पाठकों की रुचि स्वाभाविक रूप से कहानी पढ़ने की ओर रही है, जिससे मासिक और साप्ताहिक पत्र-पत्रिकाओं की बात तो अलग, दैनिक पत्रों में भी धड़ाधड़ कहानियाँ छपती आई हैं। कुछ पत्र-पत्रिकाएँ तो केवल कहानियों की ही। शायद ही कोई हिन्दी का लेखक हो, जिसने कुछेक कहानियाँ न लिखी हों। सैकड़ों लेखकों की कहानियों के संग्रह भी प्रकाशित हो चुके हैं। कहानी-साहित्य के इस विपुल भण्डार में यदि अधिकतर केवल सस्ते मनोरंजन के लिए लिखी गई अनगढ़ और तत्त्वहीन रचनाएँ हैं तो सैंकड़ों कहानियाँ ऐसी भी हैं जिस पर किसी भी भाषा के साहित्य को गर्व हो सकता है। यदि सैकड़ों कहानीकारों की सूची में अधिकतर साधारण कोटि के या नवसिखियों के नाम हैं तो सच्ची प्रतिभा के श्रेष्ठ कलाकार भी हैं, जिन्होंने अपनी रचनाओं से हिन्दी-कहानी को विश्व की अन्य उन्नत भाषाओं के कहानी-साहित्य की-सी प्रौढ़ता और समृद्धि प्रदान की है।

सन् १९११-१६ से लेकर आज तक के कहानी-साहित्य के विकास

को उनके रचना-क्रम का विवरण देकर उपस्थित करना, या प्रत्येक उल्लेखनीय कहानीकार या कहानी-संग्रह का विवेचन करना एक दुःसाध्य कार्य है, और अपेक्षित भी नहीं। कहानी के निर्माण-क्षेत्र की इतनी तेज़ सरगरमी के बावजूद यह स्मरण रहे कि केवल थोड़े ही प्रथम कोटि के ऐसे कहानीकार हैं जिन्होंने अपनी असाधारण रचनात्मक प्रतिभा से हिन्दी कहानी को विकास की अभिनव दिशाओं में मोड़ा है या उसे नई दृष्टि, शैली और क्षेत्र प्रदान किये हैं। ऐसी सर्वांगीण प्रतिभाओं में जयशंकर प्रसाद, प्रेमचन्द, पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र', जैनेन्द्रकुमार और यशपाल हैं। अन्य दूसरे कहानीकार, जिनमें कई प्रथम कोटि के हैं और कई द्वितीय श्रेणी के तथा अधिकांश अनुल्लेखनीय रूप से साधारण अथवा अतिसाधारण कोटि के, सीमित अर्थों में ही मौलिक हैं। अधिकतर उन्होंने प्रसाद, प्रेमचन्द, उग्र, जैनेन्द्र, यशपाल आदि द्वारा विकसित और निर्धारित की हुई कथावस्तु, जीवन-दृष्टि, शैली और टेकनीक की सीमाओं में बँधकर ही कहानियों की रचना की है। ऐसा भी हुआ है कि किसी-किसी ने इन सभी पद्धतियों को अपना कर प्रयोग किये हैं, किन्तु ऐसा उन्होंने ही किया है जिन्हें अभी साहित्य की उपलब्धि नहीं हुई है और कहानी के क्षेत्र में जिनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं बन पाया है। ऐसे प्रथम और द्वितीय कोटि के कहानीकारों में चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक', रायकृष्णदास, सुदर्शन, चतुरसेन शास्त्री, इलाचन्द्र जोशी, भगवतीचरण वर्मा, भगवतीप्रसाद बाजपेयी, 'पहाड़ी', 'अज्ञेय', उपेन्द्रनाथ 'अश्क', सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', 'राधाकृष्ण', 'विष्णु प्रभाकर' और चन्द्रकिरण सौनरेक्सा आदि हैं। हिन्दी-कहानी का अध्ययन अन्ततः इन सब कहानीकारों की रचनाओं का अध्ययन है। अन्य लेखकों की प्रकाशित कहानियों में से यदि संकलन किया जाय तो एक-एक, दो-दो करके प्रथम और द्वितीय कोटि की दर्जनों कहानियाँ निकाली जा सकती हैं, और यह कम गर्व की बात नहीं है। परन्तु साहित्य की परम्परा में विशिष्ट

व्यक्तित्व की प्रतिष्ठा के लिए केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। वैसे छोटी-बड़ी विशेषताएँ तो हरेक में होती हैं। बड़े राजपथ पर से हर गुज़रने वाला अपने पद-चिह्नों की पाँति से दृष्ट या अदृष्ट रूप में एक पगडण्डी तो बनाता ही चलता है, किन्तु राजपथ का निर्माण करने वाले की महत्ता अलग है।

प्रसाद, प्रेमचन्द, उग्र, जैनेन्द्र और यशपाल कहानी के राजपथों के निर्माता हैं। अतः हिन्दी-कहानी के विकास को समझने के लिए इन प्रतिभावान् कलाकारों की जीवन-दृष्टि और रचना-शैली का विवेचन और इनके कृतित्व के सन्दर्भ और पृष्ठभूमि में रखकर अन्य कहानीकारों की रचनाओं को भी जाँचने की जरूरत है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देने की भी ज़रूरत है कि हिन्दी-कहानी के कुछ इतिहासकारों ने प्रसाद, प्रेमचन्द, उग्र, जैनेन्द्र और यशपाल के नाम पर उनके निश्चित स्कूलों (निकायों) की कल्पना की है और हिन्दी के कहानीकारों का वर्गीकरण इनमें से किसी एक स्कूल के अन्तर्गत रखकर किया है। हम समझते हैं कि स्कूलों का यह वर्गीकरण गलत है। इसलिए नहीं कि इन पाँच प्रमुख कहानीकारों की रचना-शैली और विचार-प्रवृत्ति में भेद नहीं है, बल्कि इसलिए कि अन्य कहानीकार सर्वथा एक ही शैली या प्रवृत्ति का अनुकरण करने वाले नहीं हैं। पूरी तरह 'अनुकरण' करने वाले कहानीकार कम ही हैं। फिर उन्होंने केवल हिन्दी के इन शीर्ष-स्थानीय कहानीकारों से ही प्रभाव ग्रहण नहीं किये, बल्कि बँगला के रवीन्द्र, शरत् और फ्रांस के मोपासाँ, ज़ोला, रूस के तुर्गनेव, चेख़व, तालस्ताय, दोत्सोवस्की, गोर्की, अंग्रेजी के टामस हार्डी, डी० एच० लारेंस तथा अनेक दूसरे आधुनिक और वर्तमान कहानीकारों से भी प्रभाव ग्रहण किये हैं तथा हिन्दी कथा-साहित्य को अपने देश-काल की परिस्थितियों के अनुरूप नई-नई दृष्टियों से निखार-सँवार देने की चेष्टा की है। इसमें वे कभी सफल हुए हैं, कभी असफल। कभी ये प्रभाव स्वस्थ तो कभी अस्वस्थ भी साबित हुए हैं। उन्होंने कहानी के रूप को

बनाने-बिगाड़ने में मदद दी है। अतः ऐसे निश्चित स्कूलों और वर्गीकरण की बात—सांस्कृतिक विनिमय के इस स्वच्छन्द वातावरण में—केवल आलोचना की शास्त्रीय रीति-पद्धति का मोह प्रकट करती है। यह अवश्य है कि अनेक कहानीकारों में एक सीमा तक भाव-साम्य, विचार-साम्य और शैलीसाम्य भी मिलता है। परन्तु बस इतना ही। इससे निश्चित स्कूलों की सत्ता नहीं सिद्ध होती।

अब हम शीर्ष-स्थानीय हिन्दी कहानीकारों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

जयशंकरप्रसाद (१८८९-१९३७) मूलतः एक रोमाण्टिक (छायावादी) कवि थे। उनकी कहानियों में भी इस काव्यत्व की भाव-कोमल रंगीनी है। प्रसादजी की कहानियों में वातावरण के भावपूर्ण चित्रण पर विशेष ज़ोर है, जिससे पाठक कथा-सूत्र को पकड़कर सहज-वेग से आगे नहीं बढ़ता, बल्कि परिदृश्यों की सौन्दर्य-छटा में उसका मन उलझता, रमता चलता है। उनकी संस्कृत-बोझिल भाषा में यद्यपि प्रवाह पूरा है, फिर भी शैली इतनी अलंकृत और भावमयी है कि घटना-प्रवाह को उससे गति नहीं मिलती। घटना-सूत्र, चरित्र-चित्रण या प्रयोजन उनकी कहानियों में मुख्य वस्तु है भी नहीं। अतः उनकी कहानियों में 'कहानीपन' कम, गद्य-काव्यात्मकता अधिक है।

प्रसादजी की कहानियों के पाँच संग्रह उपलब्ध हैं—'छाया', 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी' और 'इन्द्रजाल'। उनकी आरंभिक कहानियों पर बँगला कहानियों का प्रभाव अवश्य है, किन्तु बाद में वह अपनी स्वतन्त्र शैली का विकास कर सके। अपने मूलतः रोमांटिक दृष्टिकोण के कारण प्रसाद ने अपनी कहानियों में मानव-हृदय के अंतः-सौन्दर्य को चित्रित करना चाहा है। इससे अधिक कोई स्थूल प्रयोजन उनकी कहानियों में निहित नहीं मिलता। व्यक्ति के साधारण जीवन में जो-कुछ मानवीय और असाधारण है, जहाँ निष्छल प्रेम और करुणा की स्रोतस्विनी प्रवाहित है, उसको उभारकर सामने लाना ही उन्हें अभीष्ट था। 'वैरागी', 'देवदासी', 'भिखारिन', 'बिसाती', 'आँधी',

'परिवर्तन', 'चूड़ीवाली', 'गुण्डा' आदि उनकी ऐसी ही कहानियाँ हैं। उनकी कुछ कहानियाँ ऐतिहासिक भी हैं, जैसे 'नूरी', 'सालवती', 'ममता' आदि। परन्तु वह ऐतिहासिक कम और काल्पनिक अधिक हैं। 'कहानी' तो इनमें भी नाम-मात्र को है। प्रसादजी से मिलती-जुलती भावना-प्रधान गद्य-काव्यात्मक शैली में **राय कृष्णदास** (जन्म सन् १८९२) और **चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', विनोदशंकर व्यास, गोविन्द वल्लभ पन्त** आदि ने भी कहानियाँ लिखी हैं। इनमें राय कृष्णदास सबसे अधिक सूक्ष्म भावचेतना के कलाकार हैं। आपकी कहानियों के दो संग्रह 'सुधांशु' और 'अनाख्या' उपलब्ध हैं। आपकी कहानियों में प्रसादजी जैसी रहस्यात्मकता नहीं है। आपने राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा ऐतिहासिक सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं। कहानियों में प्रयोजन भी निहित रहता है, जिससे पाठक को रंगीन चित्रों से अधिक भी कुछ हाथ लगता है। उनकी 'गहूला', 'प्रसन्नता की प्राप्ति', 'नर-राक्षस', 'भय का भूत' आदि ऐसी ही श्रेष्ठ कहानियाँ हैं।

प्रेमचन्द (१८८०-१९३६) हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार ही नहीं, सर्वश्रेष्ठ कहानीकार भी हैं। जिन दिनों भारत में 'सम्राट्' की सत्ता ही सर्वोपरि थी, उन दिनों हिन्दी के श्रद्धालु और कृतज्ञ पाठकों ने उपन्यास-क्षेत्र की इस अद्वितीय विभूति को 'उपन्यास सम्राट्' की उपाधि दी। फिर कहानी के पीछे भी 'सम्राट्' जुड़ने लगा। प्रेमचन्द ने यद्यपि प्रसाद से पहले ही कहानियाँ लिखनी आरम्भ कर दी थीं लेकिन हिन्दी में लिखी उनकी प्रथम कहानी 'पंच-परमेश्वर' सन् १९१६ में ही प्रकाशित हुई। इससे पहले वह उर्दू में लिखते थे, और उर्दू में ही उनकी पाँच कहानियों का संग्रह 'सोज़े-वतन' सन् १९०७ में छपा था जिसे सरकार ने ज़ब्त करके सारी कापियाँ जलवा दी थीं। उनकी उर्दू से अनुवादित कहानियों का पहला संग्रह 'सप्त सरोज' के नाम से सन् १९१५ में छपा। फिर प्रेमचन्द हिन्दी में ही लिखने लगे और अगले बीस वर्षों में उन्होंने लगभग ३०० कहानियाँ लिखीं, जो लगभग बीस-पच्चीस संग्रहों में प्रकाशित

हुईं। अब उनमें से लगभग डेढ़ सौ कहानियाँ 'मानसरोवर' के आठ भागों में संग्रह कर ली गई हैं। प्रेमचन्द ने यदि कहानी छोड़कर और कुछ नहीं लिखा होता तो भी भारतीय साहिय में उनका स्थान सुरक्षित रहता।

प्रेमचन्द में पीड़ित-दलित जनता के प्रति सहज सहानुभूति और करुणा, गम्भीर देशानुराग और स्वतन्त्रता की आदर्शोन्मुख भावना थी। इसी कारण रवीन्द्र और शरत् की तरह वह भारतीय जनता के प्रतिनिधि कलाकार बन सके। भारतीय जीवन और संस्कृति के वह इतने समीप थे कि सहज ही भारतीय जनता के मनोगत भावों को पहचान कर अभिव्यक्ति दे सकते थे। उनके जीवनानुभव का क्षेत्र भी विशाल था। उनके स्वर में प्रौढ़ता और जाग्रत विवेक है। फिर भी प्रेमचन्द जीवन-पयन्त एक जिज्ञासु बने रहे। उन्होंने अपने अनुभव और विचारों को कभी रूढ़ नहीं होने दिया, यद्यपि प्रारम्भिक काल की प्रवृत्तियाँ भी अन्त तक थोड़ी-बहुत चलती रहीं। आर्यसमाजी समाज-सुधारक से बढ़ते-बढ़ते वह अपने अन्तिम दिनों में वर्ग-संघर्ष की अनिवार्यता को पहचानने लग गए थे और पूँजीवादी समाज और संस्कृति की निस्सारता और प्रतिगामिता के बारे में उनके मन में कोई भ्रम या सन्देह न रहा था। उनकी अपनी प्रगति की छाप उनकी कहानियों पर भी अंकित होती गई है।

मूलतः प्रेमचन्द एक यथार्थवादी कलाकार हैं, अर्थात् जीवन के यथार्थ-सत्य की शोध करना और उसका कलात्मक आकलन करना ही उनका उद्देश्य है। वह समग्र जीवन के चितेरे हैं, इसीलिए उन्होंने हर वर्ग और सामाजिक स्थिति के लोगों की कहानियाँ लिखी हैं, हर शैली का प्रयोग किया है, कहानी के हर रूप-प्रकार का उपयोग किया है, घटना-प्रधान, चरित्र-चित्रण-प्रधान, मनोवैज्ञानिक, सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक—सभी प्रकार की कहानियाँ लिखी हैं, लेकिन मनुष्य के अन्तर्बाह्य जीवन की मार्मिक स्थितियों का चित्रण किया उन्होंने यथार्थवादी प्रणाली

के अनुसार ही। इन सब दृष्टियों से उनकी एक नहीं अनेकानेक कहानियाँ ऐसी हैं, जिनकी तुलना विश्व की श्रेष्ठ कहानियों से की जा सकती है। उनकी 'पंच परमेश्वर', 'आत्माराम', 'बड़े घर की बेटी', 'शतरंज के खिलाड़ी', 'वज्रपात', 'रानी सारंधा', 'अलग्योझा', 'ईदगाह', 'सद्गति', 'अग्नि-समाधि', 'कामना-तरु', 'पूस की रात', 'सुजान भगत', 'कफ़न' आदि अधिक विख्यात श्रेष्ठ कहानियाँ हैं।

प्रेमचन्द की भाषा-शैली भी हिन्दी-साहित्य में अनूठी है। उतनी जीवन्त प्राणवान, सरल पर गम्भीर भाषा का प्रयोग और किसी ने नहीं किया। गुलेरी, कौशिक, सुदर्शन आदि की भाषा भी बहुत-कुछ वैसी ही सरल प्रवाहमयी है, किन्तु उसमें वह जीवन की गरमाई नहीं जो प्रेमचन्द की भाषा में है। चन्द्रधर शर्मा गुलेरी, विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक' और 'सुदर्शन' भी प्रेमचन्द की पीढ़ी के लेखक हैं, और प्रारम्भिक उठान में प्रेमचन्द के ही समकक्ष रखे जाते थे। लेकिन जहाँ प्रेमचन्द अपनी सतत् जागरूकता के कारण अपनी प्रतिभा और कला का नवोन्मेष करते चले, वहाँ गुलेरी, कौशिक और सुदर्शन प्रारम्भिक समाज-सुधारक की सीढ़ी को लाँघकर ऊपर न चढ़ सके। उनकी कला भी रूढ़ हो गई, जिसकी आवृत्ति वे अपनी कहानियों में अन्त तक करते रहे। उसमें धीरे-धीरे ताज़गी खत्म हो गई। फिर भी **चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** (१८८३–१९२२) की कहानी 'उसने कहा था' (१९१५) हिन्दी-साहित्य में एक बेजोड़ रचना है। गुलेरी जी की दो और कहानियाँ मिलती हैं—'सुखमय जीवन' और 'बुद्धू का काँटा'। 'उसने कहा था' उनकी अन्तिम और सर्वश्रेष्ठ कहानी है। पहले महायुद्ध से सम्बन्धित सैनिक लहनासिंह की यह करुणा-मिश्रित कहानी एक साथ ही कथा-विन्यास, विचार-वस्तु, रचना-तन्त्र, भाषा और शैली, सभी दृष्टियों से इतनी प्रौढ़, सन्तुलित और सजीव रचना है कि आश्चर्य होता है कि हिन्दी-कहानी के प्रारम्भ में ही, जब आचार्य द्विवेदी अभी खड़ी-बोली का

साहित्यिक रूप स्थिर करने के भगीरथ प्रयत्न में संलग्न थे, गुलेरी जी ने कहानी की भाषा का यह प्रौढ़-रूप किस तरह निखार लिया। **विश्वम्भरनाथ शर्मा 'कौशिक'** (१८९१–१९४६) भी पहले उर्दू के लेखक थे, बाद में हिन्दी में आये। कौशिक जी की पहली हिन्दी-कहानी 'रक्षा-बन्धन' सन् १९१३ में प्रकाशित हुई थी। कौशिक जी की कहानियों का क्षेत्र बहुत सीमित है। अन्त तक वे समाज-सुधार की भावना से ऊपर न उठ सके। इसी सीमित घेरे में उन्होंने सरल कथानकों की उद्भावना करके सरल, भावुक कहानियाँ लिखीं। भाषा अवश्य उनकी साफ़-सुथरी और मँजी हुई है, किन्तु उसमें वह जान नहीं जो प्रेमचन्द में है, क्योंकि जीवन की ऊपरी सतहों को ही वे छूते हैं, सूक्ष्म भावों की गहराई और प्राणवन्त विचारों की स्फूर्ति उनमें नहीं है। उनकी हास्य और विनोद से भरी 'दुबेजी की चिट्ठियाँ' सम्भवतः पुराने 'चाँद' के पाठकों को स्मरण हों, लेकिन उनकी ३०० कहानियों में से 'कल्प-मन्दिर' और 'चित्रशाला' नाम से उनके दो संग्रह भी उपलब्ध हैं। इनकी 'ताई' कहानी हिन्दी-जगत् में बहुत लोक-प्रिय है। कौशिक जी का ऐतिहासिक महत्त्व बड़ा है, किन्तु कलाकार की हैसियत से वे साधारण कोटि में ही हैं। प्रेमचन्द के समकालीन लेखकों में **प० बद्रीनाथ भट्ट 'सुदर्शन'** (जन्म १८९६) का नाम भी चौदह-पन्द्रह वर्ष पूर्व तक उतना ही प्रमुख था। उनकी पहली कहानी 'हार की जीत' सन् १९२० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी। तब से आपकी कहानियों के लगभग दस संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—'सुदर्शन-सुधा', 'सुदर्शन-सुमन', 'तीर्थ-यात्रा', 'पुष्प-लता', 'गल्प-मंजरी', 'सुप्रभात', 'चार-कहानियाँ', 'परिवर्तन', 'नगीना' और 'पनघट'। सुदर्शन जी का क्षेत्र भी अपेक्षया सीमित है। उन्होंने विशेषकर सामाजिक जीवन के चित्र अंकित किए हैं। चरित्र-चित्रण की अपेक्षा वातावरण का यथार्थ चित्रण उनकी विशेषता है। उनका उद्देश्य कहानी द्वारा जीवन के मानवीय सत्यों का उद्घाटन और मनुष्य में उदात्त मानवीय भावनाएँ

जगाना रहा है। उनकी 'हार की जीत', 'कमल की बेटी', 'संसार की सबसे बड़ी कहानी', 'कवि की स्त्री' आदि कहानियाँ प्रसिद्ध हैं। प्रेमचन्द की-सी व्यापकता सुदर्शन में नहीं है, और न असाधारण उद्‌भावना शक्ति ही, रचना-चातुरी और नपी-तुली, सन्तुलित भाषा का प्रसाद गुण यद्यपि पर्याप्त है।

पाण्डेय बेचन शर्मा 'उग्र' एक नई भाषा-शैली, क्रान्तिकारी भावना और राजनीतिक चेतना लेकर सन् १९२२ में हिन्दी-कहानी में आये। आपके आगमन की तुलना किसी ने 'उल्कापात' तो किसी ने 'धूमकेतु' के उदय जैसी आकस्मिक घटनाओं से की है। कोई तूफ़ान और बवंडर का नाम भी लेते हैं। वास्तविक बात यह है कि 'उग्र' एक विद्रोही कलाकार हैं। उनका 'विद्रोह' अज्ञेय की तरह व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक असमंजस्य और कुण्ठाओं का परिणाम न था, जिससे यह अनुभूति कि 'मैं विद्रोही हूँ' ही आत्म-परितोष देने लगती है और विद्रोही अपने मन की धुरी पर चक्कर काटने को ही क्रान्ति का पर्यायवाची समझ लेता है, बल्कि 'उग्र' का विद्रोह राजनीतिक और सामाजिक विचारों, रूढ़ियों, और गतानुगतिकता के विरुद्ध था, इसीलिए सोद्देश्य और आस्थावान था और उसने अपनी लपेट में हिन्दी के सभी पाठकों को लेकर उन दिनों खूब झकझोरा। देश-प्रेम, त्याग, हिन्दू-मुस्लिम एकता आदि राजनीतिक विषयों को आपने अपनी कहानियों में सबसे पहले तीव्र कलात्मक अभिव्यक्ति दी। उन्हें जिस कारण कुछ लोगों ने 'घासलेटी' (अश्लील) साहित्य की रचना का आरोप लगाकर साहित्य-जगत् से बहिष्कृत करना चाहा, वह राजनीतिक कहानियाँ न थीं, बल्कि उनकी वह सामाजिक कहानियाँ और उपन्यास थे जिनमें उन्होंने समाज में फैली कुरीतियों और भ्रष्टाचारों की बीभत्सता का पूरा यथातथ्य चित्रण किया था। जिन्होंने अपना साहित्यिक आभिजात्य एक थोथी आदर्शवादिता और आडम्बरपूर्ण नैतिकता के सहारे खड़ा किया था, उन्हें 'उग्र' की यह उद्दण्ड हरकत बेहद अप्रिय लगी। उन्हें इससे अधिक कुरुचिपूर्ण और क्या हो सकता

था कि कोई वेश्याओं, भिखमंगों, अपाहिजों, विधवाओं और गुण्डों की समस्या पर आदर्शवाद की झीनी चादर न डाल करके उसकी बीभत्स कुरूपता पर रोशनी डाले और उन्हें भी सामाजिक अन्याय के विरुद्ध उभारे? किन्तु सन् १९२२ से सन् ३३ तक 'उग्र' हिन्दी-पाठकों के सर्वाधिक प्रिय कहानीकार और लेखक बने रहे। फिर भी कुछ 'ऊँचों' की उपेक्षा उन्हें एक काल के लिए साहित्य-जगत् से निर्वासित करने में और स्वयं 'उग्र' के मन पर कटु प्रभाव डालने में सफल हुई। किन्तु हाल ही में आपकी पुरानी कहानियों का एक नया संग्रह 'सनकी अमीर' प्रकाशित हुआ है, जिसमें कुछ कहानियाँ तो अपने प्रचण्ड यथार्थ चित्रण के कारण अंग्रेज़ी उपन्यासकार फील्डिंग की याद दिलाती हैं। आपकी कहानी 'जल्लाद' हिन्दी में एक बेजोड़ रचना है। पूँजीवादी-सामन्तवादी समाज के विरुद्ध जितना गहरा आक्रोश और घृणा आपके मन में है, आपकी कहानियों में वह उतनी ही आवेगमयी, ओजपूर्ण शैली और कलात्मक चरित्र-चित्रण में व्यक्त हुई है। आपके पहले कहानी-संग्रह, 'दोज़ख़ की आग' 'चिनगारियाँ' और 'बलात्कार' हैं।

'उग्र' की तरह **आचार्य चतुरसेन शास्त्री** ने भी सामाजिक कुरीतियों का खुलकर भण्डाफोड़ किया है, लेकिन आपकी कहानियों में न 'उग्र' की शैली का कसाव है, और न सहज तीव्रता ही। 'उग्र' के वर्णन प्रकृतिवादी उतने नहीं होते, जितने शास्त्रीजी के। अर्थात् 'उग्र' समाज के नग्न और कुरूप पक्षों को केवल 'साधारण' के 'साधारण' चित्रण द्वारा नहीं दिखाते, किन्तु शास्त्रीजी 'साधारण' को प्रगल्भ यथातथ्य चित्रण द्वारा असाधारण बनाने की चेष्टा करते हैं। आपकी कहानियों के संग्रह 'रजकण' और 'अक्षत' नाम से छपे हैं, और 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी', 'दे खुदा की राह पर', 'भिक्षुराज', 'ककड़ी की कीमत' आदि आपकी प्रसिद्ध कहानियाँ हैं।

उग्र के आगमन के बाद हिन्दी-कहानी के गगन में आठ-दस वर्ष तक फिर कोई 'उल्कापात' नहीं हुआ। जैनेन्द्र आये, परन्तु उल्कापात

की तरह नहीं, 'सूर-सूर तुलसी ससी' की उक्ति के अनुसार प्रेमचन्द 'सूर' की बगल में 'ससी' का स्थान लेने। कहानी-लेखकों की दूसरी पीढ़ी सन् १६३० के लगभग और चौथे दशक में सामने आई। उन्होंने हिन्दी-कहानी में नये सीमान्त खोले। कहानी अधिक मनोवैज्ञानिक और जटिल हो गई।

जैनेन्द्र कुमार हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानी-लेखकों में से हैं। वह प्रेमचन्द से ही द्वितीय समझे जाते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि जैनेन्द्र ने हिन्दी-साहित्य में शरत्चन्द्र की क्षतिपूर्ति की है। यह अनुमान चाहे हू-ब-हू दुरुस्त न हो, लेकिन इतना तो असंदिग्ध है कि जैनेन्द्र ने बाह्य और आन्तरिक जीवन के उभय पक्ष को पूरी मनोवैज्ञानिक सचाई के साथ समन्वित करने की कोशिश की है और हिन्दी-कहानी को एक नई अन्तर्दृष्टि, संवेदनशीलता और दार्शनिक गहराई प्रदान की है, और इस प्रकार हिन्दी-कहानी का बौद्धिक स्तर ऊँचा उठाया है। आधुनिक जीवन की जटिलता कहानी में भी प्रतिबिम्बित हो उठी है। जैनेन्द्र की विशेषता यह है कि वे जीवन को साधारण या औसत परिस्थितियों में रख-कर, साधारण या औसत पात्रों की मनोदशा का चित्रण या 'मनोवैज्ञानिक सत्य' का उद्घाटन नहीं करते। उन्होंने असाधारण परिस्थितियों में पड़े असाधारण व्यक्ति की मानसिक क्रिया-प्रक्रिया और अन्तर्द्वंद्वों का चित्रण किया है, और इसके माध्यम से ही उन्होंने समाज के वैषम्य को भी प्रतिबिम्बित कर दिया है। एक विचारक की हैसियत से जैनेन्द्र समाज-वादी नहीं, व्यक्तिवादी हैं, भौतिकवाद की ओर नहीं अध्यात्मवाद की ओर उनका सहज आकर्षण है तथा उनका मार्ग संघर्ष का नहीं समन्वय या समझौते का है—यह सब दुरुस्त है। दृष्टिकोण की इन सीमाओं ने कहानी के वस्तु-चयन की प्रक्रिया और कथासूत्र में समस्या को उपस्थित करने और निष्कर्ष की ओर अनुधावित करने वाले उद्घाटन पर यथेष्ट प्रभाव डाला है और उनके यथार्थवाद को स्वच्छन्द रीति से वास्तविकता के सम्पूर्ण सत्य को प्रतिबिम्बित करने से रोका है, लेकिन फिर भी इसमें

सन्देह नहीं कि उन्होंने जीवन-यथार्थ के उभय पक्षों को केवल सतही रूप से नहीं, बल्कि जीवन-मर्म की गहराइयों में डुबकी लगाकर आकलित करने की एक ऐसी श्रेष्ठ प्रणाली देकर हिन्दी-कहानी को समृद्ध किया है, जिसके द्वारा पात्रों की चारित्रिक विशेषताओं को उभार कर वस्तु-सत्य की मार्मिक अभिव्यक्ति की जा सकती है। जैनेन्द्र की भाषा और शैली हिन्दी में अनूठी है। बहुत संक्षेप में, मार्मिक तीक्ष्णता से तत्त्व की बात कहने में वे अपना सानी नहीं रखते। यह भाषा और शैली प्रयास-सिद्ध है, परन्तु यह सिद्धि उनकी इतनी अपनी है कि प्रयास दिखाई नहीं देता, और उनकी भाषा के लिए सहज स्वाभाविक लगती है।

इलाचन्द्र जोशी और **स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय'** को जैनेन्द्र की मनोवैज्ञानिकता से प्रभावित कहा जाता है। कुछ लोग इन्हें जैनेन्द्र के स्कूल का बताते हैं। किन्तु इससे बढ़कर भ्रान्ति नहीं हो सकती। जैनेन्द्र की मनोवैज्ञानिक चित्रण की प्रणाली अपने जीवनानुभव और भाव-चेतन मानस की उपज है, जबकि इलाचन्द्र जोशी और स० ही० वात्स्यायन 'अज्ञेय' में मनुष्य की मनोगत दिशाओं और अन्तर्द्वन्द्वों का चित्रण कम, फ्रॉयड की प्रणाली से किया गया मनोविकारों का विश्लेषण अधिक है। इसीलिए जैनेन्द्र जहाँ उच्च मानसिक भूमि पर मनुष्य की चारित्रिक विशेषताओं का अंकन और अन्तर्द्वद्वों के माध्यम से उसकी उदात्त, मानवीय सहानुभूतियों और मनोभावनाओं को जीवन की गहराई में उतरकर अभिव्यक्ति देने की कोशिश करते हैं, वहाँ ये दोनों कहानीकार अपने कुण्ठाग्रस्त पात्रों के विक्षिप्त मानस को मनोवैज्ञानिक औचित्य प्रदान करके उनके जघन्य और असामाजिक कृत्यों को अपनी ओर से महिमा-मण्डित करने का प्रयत्न करते हैं; साथ ही पाठकों से भी उनके प्रति सहानुभूतिशील होने की अपेक्षा करते हैं। इसके अतिरिक्त, इन लेखकों में मनोविश्लेषण के प्रति इतना प्रबल आग्रह है कि वे मानसिक रुग्णताओं को ही मानवीय सत्य मानकर, अपने पात्रों के कृत्यों का यथातथ्य

प्रकृतवादी आकलन करते हैं जिससे उनकी रचनाओं का अन्तःस्वर तो कैशोर-उद्धत, अविवेकी, अनुदात्त और अहम्मन्यतापूर्ण होता ही है, उनके पात्र भी अपनी असामाजिकता, स्वार्थपरता और आत्म-केन्द्रित उत्तरदायित्वहीनता को ही सामाजिक विद्रोह और क्रान्तिकारी जीवन-दर्शन का पर्याय मान लेते हैं। पूरी कहानी कभी ही साधारणता के तल से ऊपर उठ पाती है। क्रान्ति और सामाजिक भावना का ऐसा विद्रूप हिन्दी में अन्यत्र नहीं मिलता। अपनी उदात्त मानवीय संवेदना के अभाव और जीवन-सत्य की कलात्मक प्रतीति से वंचित होने की पूर्ति ये लेखक अपनी-अपनी क्षमता के अनुसार उक्ति-वैचित्र्य, संकेत-कथन, भाषा के बनाव-सिंगार, और अभिनव रूपविन्यास से करते हैं। परन्तु उनके पात्र सजीव नहीं हो पाते, फ्रॉयड की स्थापनाओं के दृष्टान्तस्वरूप गढ़े गए, कृत्रिम और बनावटी लगते हैं, और मनुष्य और मनुष्यता का उपहास-मात्र प्रतीत होते हैं। इन लेखकों की कहानियों में शैली-भेद चाहे कितना हो, किन्तु जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण मूलतः एक-सा है और जैनेन्द्र से भिन्न है। इलाचन्द्र जोशी इनमें कमजोर कहानीकार हैं और 'अज्ञेय' अधिक रचना-कुशल। जोशीजी की कहानियों के संग्रह, 'रोमाण्टिक और छाया', 'आहुति और दीवाली', 'होली' और 'ऐतिहासिक कथाएँ' तथा 'अज्ञेय' की कहानियों के संग्रह 'विपथगा', 'परम्परा', 'कोठारी की बात' और 'जय-दोल' हैं।

इनसे कुछ भिन्न प्रकार की कहानियाँ **भगवतीचरण वर्मा** ने लिखी हैं। इनकी कहानियों के संग्रह 'खिलते फूल', 'इन्स्टालमेण्ट' और 'दो बांके' प्रकाशित हो चुके हैं। अब तक हिन्दी-कहानी की परम्परा मूलतः मानववादी थी। समाज के वैषम्य से कुण्ठित-पीड़ित मनुष्य के अन्तः-करण में मनुष्य और मनुष्यता का निवास है, मानव-जीवन में इस विश्वास को लेकर ही कहानीकार सामाजिक विषमताओं पर आक्रमण करते थे और मनुष्य की समाज-खण्डित प्रतिमा को पुनः पूर्णत्व देने के लिए उसके अन्तःसत्य और अन्तःसौन्दर्य, यानी उसकी अखण्डित मान-

वीयता का उद्घाटन करते थे। परन्तु ये लेखक, इस परम्परा के विपरीत, फ्रॉयडी अर्ध-सत्यों को कबूल करके मनुष्य को परिस्थितियों का ही नहीं, स्वयं अपनी अर्ध-चेतन काम-वासनाओं का निरुपाय दास और सभ्यता के बाह्याभरण में ढँके-छिपे पर मूलतः हिंस्र, पाशविक और स्वार्थी ही चित्रित करते हैं। **'पहाड़ी'** और **नरोत्तमदास नागर** भी प्रारम्भ में किंचित् भेद के साथ इसी प्रवृत्ति के कहानीकार थे। राष्ट्रीय जागरण और हिन्दी-कहानी की इस परम्पराभ्रष्ट प्रवृत्ति को यहीं छोड़कर अब हम अन्त में यशपाल पर विचार करेंगे, जो प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के बाद हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कहानीकार हैं।

यशपाल की कहानियों के लगभग दस संग्रह अभी तक प्रकाशित हो चुके हैं—'अभिशप्त', 'वो दुनिया', 'ज्ञानदान', 'पिंजरे की उड़ान', 'तर्क का तूफान', 'भस्मावृत्त चिनगारी', 'फूलों का कुर्ता', 'धर्म-युद्ध', 'उत्तराधिकारी' और 'चित्र का शीर्षक'। प्रेमचन्द और जैनेन्द्र की तरह यशपाल की भी अनेक कहानियाँ हिन्दी कहानी-साहित्य में शीर्ष-कोटि की हैं। यशपाल ने हिन्दी-कहानी की सामान्य मानववादी परपम्रा को नई सामाजिक राजनीतिक चेतना देकर ऊँचे धरातल पर उठाया है। कुछ प्रारम्भिक कहानियों को छोड़कर यशपाल की कहानियाँ मूलतः यथार्थवादी हैं। उनकी कथावस्तु और चरित्र-चित्रण मार्मिक और भाषा-शैली प्रौढ़, गम्भीर और व्यंगपूर्ण होती है। यशपाल अपनी कहानियों में सामाजिक और व्यक्तिगत जीवन के विविध चित्रों द्वारा मौलिक समस्याएँ उठाते हैं, और एक कलाकार की रीति से उनका समाधान भी खोजते हैं। ये समस्याएँ मौलिक हैं क्योंकि मनुष्य-जीवन के व्यापक सत्य से उद्भूत हैं। उनका मार्क्सवादी दृष्टिकोण इन समस्याओं के मूल-कारणों तक पहुँचने में सहायक होता है और उनकी विशेषता यह है कि वे आद्यन्त कलाकार बने रहते हैं, परिस्थितियों और उनके मध्य संघर्ष करने वाले चरित्रों के कार्य-व्यापार के स्वाभाविक उद्घाटन से वह सामाजिक जीवन और मनुष्य के मनोगत भावों और

द्वन्द्वों का चित्रण करते हैं। यशपाल की मूल-समस्या यह है कि समाज के विषम संगठन ने मनुष्य-जाति को ही दो विरोधी वर्गों में नहीं बांटा है, बल्कि मनुष्य के विचार और व्यवहार या आचरण में भी एक द्वैत या वैषम्य पैदा कर दिया है। इस द्वैत या बैषम्य के प्रति पाठकों को सचेत करना ही यशपाल का प्रधान उद्देश्य है। यह चेतना जनता में उस सामाजिक क्रियाशीलता को जन्म देगी जो सामाजिक वैषम्य का तो अन्त करेगी ही, 'ऊँचे विचार नीच करतूती' के वैषम्य का भी अन्त कर देगी। तभी मनुष्य का बाह्य और आन्तरिक जीवन पूर्ण स्वास्थ्य का लाभ कर सकेगा। इस समस्या को उन्होंने विविध ढंगों से अपनी कहानियों में उठाया है और साधारण अथवा शिष्ट समाज की ऊँचे विचारों में आवेष्ठित 'नीच करतूती' पर तीखे प्रहार किए हैं।

यशपाल से प्रभावित तो नहीं, लेकिन बहुत-कुछ समस्याओं को प्रगतिशील दृष्टिकोण से उठाने वाले दूसरे समर्थ कहानीकार **चन्द्रकिरण सौनरेक्सा** तथा **उपेन्द्रनाथ 'अश्क'** हैं। चन्द्रकिरण सौनरेक्सा ने मुख्यतः घरेलू-जीवन के सामाजिक, आर्थिक और मनोवैज्ञानिक प्रश्नों पर शक्तिशाली कहानियाँ लिखी हैं। कथावस्तु की योजना आप सहज कौशल से करती हैं और आपका चरित्र-चित्रण प्राणवान होता है। आपकी कहानियों का केवल एक ही संग्रह 'आदमखोर' प्रकाशित हुआ है, यद्यपि कहानियाँ आपने १५० से अधिक लिखी हैं और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छपकर ख्याति पा चुकी हैं। 'अश्क' की कहानियों के संग्रह 'पिंजरा', 'काले साहब', 'जुदाई की शाम का गीत', 'छींटे' और 'बैंगन का पौधा' हैं। 'दो धारा' में उनकी और श्रीमती कौशल्या 'अश्क' की कहानियाँ संग्रहीत हैं। 'अश्क' पहले उर्दू के कहानीकार थे, इसलिए उर्दू-कहानियों की शैली का उन पर प्रभाव है। कहानी में कथा-सूत्र चाहे अधिक न हो, पर वातावरण का यथार्थ अंकन और सूक्ष्म प्रभाव अवश्य रहते हैं, जिससे कहानी की गति धीमी हो जाती

है। उनके चरित्र-चित्रण की विशेषता यह है कि वे अपने पात्रों को विशेष परिस्थितियों के बीच अपने साधारण-असाधारण सुख-दुख का भार वहन करते हुए जीवन-पथ पर अग्रसर होते दिखाते हैं। इस सामान्य संघर्ष यात्रा में ही उनके चरित्रों की कमज़ोरियों-शहज़ोरियों का उद्घाटन होता जाता है और सामाजिक वैषम्य की झलक पाठक को मिलती जाती है।

इस प्रकार हिन्दी-कहानी इस समय दो विरोधी मार्गों पर चल पड़ी है।

छः

निबन्ध का विकास

भारतेन्दु से ही हिन्दी-गद्य में निबन्ध-लेखन की परम्परा का सूत्रपात होता है। निबन्ध भी हिन्दी-साहित्य का एक आधुनिक गद्य-रूप है। निबन्ध का अंग्रेज़ी पर्याय 'एसे' (Essay) है। फ्रांसीसी दार्शनिक मौन्टेन ने अपने आत्म-विवेचनात्मक, दार्शनिक और नीति-सम्बन्धी लेखों के संग्रह को सब से पहले 'एसे' का नाम दिया था—अर्थात् ऐसे निबन्ध जो तात्त्विक मीमांसाओं की तरह किसी विषय पर अन्तिम बात कहने का दावा नहीं करते, बल्कि बहस के लिए कुछ नुक्ते उठाने का ही 'प्रयास' करते हैं। तब से गद्य में एक सीमित या विशिष्ट विषय के संक्षिप्त विवेचन को 'एसे' की संज्ञा दी जाने लगी। निबन्ध क्या है, इस पर पश्चिम में काफी लिखा गया है। हमारे यहाँ की प्राचीन परिपाटी के समान ही वहाँ भी निबन्धों का वर्गीकरण किया गया, और विषयगत भेद और शैलीगत वैशिष्ट्य के आधार पर निबन्धों के 'प्रकार' की लम्बी-लम्बी सूचियाँ तैयार की गईं। उपदेशात्मक, आलोचनात्मक, विवेचनात्मक, कल्पनात्मक, भावात्मक, संस्मरणात्मक, ऐतिहासिक, वर्णनात्मक, विचारात्मक, विवरणात्मक, मनोवैज्ञानिक, विलक्षणता-प्रधान, चरित्र-चित्रण-प्रधान, प्रकृति-चित्रण-प्रधान, आदि निबन्ध-प्रकारों की सूची

खासी लम्बी है और यदि चाहें तो 'हास्य-प्रधान निबन्ध', 'करुणा-प्रधान निबन्ध', 'गम्भीर निबन्ध', 'हल्के-फुल्के निबन्ध'—इसी सूची को मनमाना बढ़ाया जा सकता है। किन्तु वास्तव में ऐसा वर्गीकरण तात्त्विक नहीं है, केवल विषयगत या शैलीगत भेद पर आश्रित है, जो अपनी जगह निबन्धों की गौण चारित्रिक विशेषताओं पर प्रकाश तो डाल सकता है किन्तु 'निबन्ध' की मूलभूत प्रकृति को समझने में सहायक नहीं होता। यदि गद्य में लिखा प्रत्येक संक्षिप्त विवेचन निबन्ध है, तो निश्चय ही निबन्धों के केवल दो वर्ग होते हैं : (१) कलात्मक निबन्ध, जिसे ललित निबन्ध भी कह सकते हैं, और (२) तथ्य-निरूपक, वस्तु-निष्ठ, वैज्ञानिक निबन्ध। पहला ललित-कला या रचनात्मक साहित्य के अन्तर्गत आता है और निबन्धकार उसमें स्वयं प्रकट होकर पाठक के साथ सीधा आत्मीय और मार्मिक सम्बन्ध स्थापित करके अपने विशिष्ट उक्ति-चातुर्य से उसकी बुद्धि और रागों को छूता-उकसाता-बिलगाता और उसका मनोरंजन करता हुआ विवेच्य विषय का प्रतिपादन और प्रेषण करता है। दूसरा सिद्धान्त-विवेचन या विज्ञान के अन्तर्गत आता है। निबन्धकार उसमें यथासम्भव अपने व्यक्तित्व को परोक्ष में रखकर, केवल अपनी तर्क और विवेचना-शक्ति से पाठक की बुद्धि और चेतना को उकसाता है और अपने विचारों या निष्कर्षों का प्रेषण करता है। उदाहरण के लिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का निबन्ध 'नाखून क्यों बढ़ते हैं' या 'शिरीष के फूल' (कल्पलता) पहले वर्ग के निबन्ध हैं और आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के निबन्ध-संग्रह 'काव्य में रहस्यवाद' के निबन्ध दूसरे वर्ग के हैं। निबन्धकार की वैयक्तिकता की छाप तो दोनों वर्गों के निबन्धों पर अनिवार्यतः रहती ही है, और दोनों वर्गों के निबन्धकार प्रतिपाद्य विषय के अनुकूल उनमें हास्य-विनोद, व्यंग्य के छींटे भी बिखेर सकते हैं, यद्यपि दूसरे वर्ग के निबन्धों में इसकी प्रवृत्ति कम होती है। इस व्यापक वर्गीकरण के अन्तर्गत सभी तरह के विषय दोनों प्रकार के निबन्धों की विवेच्य-वस्तु बन सकते हैं। किन्तु एक कलात्मक अभिव्यक्ति

का प्रकार है तो दूसरा वैज्ञानिक। फलतः आज जब हम विशुद्ध 'निबन्ध' की बात करते हैं, तो केवल साहित्यिक (कलात्मक) 'निबन्ध' से ही हमारा अभिप्राय होता है, अन्य प्रकार के निबन्धों को अब उनके विषय-गत उपभेद के विशेषण जोड़कर अभिहित किया जाता है, जैसे 'आलोच-नात्मक निबन्ध', 'राजनीतिक निबन्ध' 'ऐतिहासिक निबन्ध' आदि; कलात्मक निबन्धों को उनके शैलीगत उपभेद के अनुसार भावात्मक, विचारात्मक, व्यंग्यात्मक आदि। निबन्ध के प्रकरण में ऐसे कलात्मक निबन्धों का ही विवेचन अपेक्षित है। अन्त में यह स्पष्ट कर देना उचित है कि अपने आप में दोनों में से किसी वर्ग के निबन्ध अधिक श्रेष्ठ या प्रभावोत्पादक नहीं होते। वस्तुतः यह तो निबन्धकार की संवेदन-शील प्रतिभा और तथ्य-निरूपिणी प्रौढ़ता पर निर्भर करता है कि वह जिस वर्ग का निबन्ध लिख रहा है उसे श्रेष्ठ कलाकार या वैज्ञानिक रचना बना सकता है या नहीं। निबन्ध गद्य का अत्यन्त शक्तिशाली रूप-विधान है। कुशल निबन्धकार अपने रचना-लाघव से अत्यन्त संक्षेप में बहुत बड़ी, तत्त्व की बात सरल कलात्मक ढंग से या सुबोध वैज्ञानिक तर्क-पद्धति से पाठकों तक प्रेषित कर सकता है। इसीलिए विश्व के आधुनिक गद्य-साहित्य में निबन्ध का इतना बड़ा महत्त्व है।

राष्ट्रीय जागरण के उषःकाल में पैदा होने के कारण भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के लेखकों को चतुर्मुखी दायित्वों का भार उठाना पड़ा। ये दायित्व बड़े थे, विशेषकर उन प्रारम्भिक दिनों की परिस्थितियों में उनका गुरुत्व और भी बड़ा था। खड़ी-बोली हिन्दी को, जिसमें अभी साहित्य के नाम पर केवल दो-चार ही साधारण रचनाएँ थीं, गद्य-साहित्य की रचना के उपयुक्त बनाना, अर्थात् नई राष्ट्रीय जाग्रति का समर्थ वाहन बनाना और साथ ही उसमें नये साहित्य की सृष्टि करके उसके अंग-उपांग को पुष्ट और समृद्ध बनाना स्वयं अपने आप में एक गुरुतर दायित्व था। पर उनके सामने प्रश्न केवल इतना ही न था। उन्हें इस नये साहित्य को सर्वसाधारण तक पहुँचाने के साधनों का भी

स्वयं ही विकास करना पड़ा। तब तक पूँजी लगाने वाले प्रकाशकों का ज़माना न आया था। पत्र और साहित्य से तब अतिरिक्त-मुनाफा कमाने का स्वप्न भी न देखा जाता था। अतः लेखकों को ही पाठक भी खोजने पड़े। उन्हें शिक्षा-प्रचार और सामाजिक-सुधार की आवश्यकता के प्रति जनता को सचेत भी बनाना पड़ा और देश-देशान्तर में होने वाली जो घटनाएँ हमारे राष्ट्रीय जीवन को प्रभावित कर रही थीं उनकी गतिविधि से परिचित कराके सर्वसाधारण की राजनीतिक चेतना को भी जागृत करना पड़ा। इतने बड़े दायित्वों का भार पत्र-पत्रिकाओं द्वारा ही उठाया जा सकता था। इसीलिए भारतेन्दु और उनकी पीढ़ी के लगभग सभी लेखकों ने अपनी-अपनी पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित कीं, स्वयं उनका सम्पादन किया और स्वयं ही उनमें लेख-टिप्पणियाँ और निबन्ध भी लिखे। नई चेतना को लोगों तक पहुँचाने में निबन्ध ही सबसे अधिक सहायक सिद्ध हुए—अधिक सरल और सुबोध माध्यम। इसीलिए भारतेन्दु के समय निबन्ध-साहित्य की ही सर्वाधिक रचना हुई। हर सम्भव विषय पर निबन्ध लिखे गए। चूँकि सर्वसाधारण को जागृत करने और पत्रकारिता की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये इस गद्य-रूप का विकास हुआ, इसलिए इन प्रारम्भिक निबन्धों में व्यापक सामाजिक चेतना और पाठकों को सहज ही प्रभावित करने वाली सजीवता मिलती है। गम्भीर पाण्डित्य और गहन-चिन्तन की बोझिलता उनमें नहीं है। फिर भी लेखकों के अपने-अपने व्यक्तित्वों की छाप तो इन निबन्धों पर है ही, जिससे उनकी वैयक्तिक शैलियों का विवेचन करना सम्भव है। चूँकि तब तक साहित्य की भाषा का सामान्य रूप स्थिर नहीं हुआ था, इसलिए प्रत्येक लेखक की भाषा में स्थानीय रंग भी लक्षित है जिसे स्थानीय मुहावरों, लोकोक्तियों और शब्दों ने और भी गाढ़ा कर दिया था और धरती की गन्ध से अनुप्राणित करके सजीव बना दिया था।

भारतेन्दु के समकालीन निबन्धकारों में **बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', ज्वालाप्रसाद,**

तोताराम, अम्बिकादत्त व्यास और राधाचरण गोस्वामी के नाम प्रमुख हैं। निबन्ध-लेखन के क्षेत्र में इन लेखकों का प्रयास प्राथमिक था, इसलिए आधुनिक निबन्ध के सभी गुण उनमें बीज-रूप में ही मिलते हैं। प्रायः सभी ने अपने निबन्धों के विषय जीवन के विविध क्षेत्रों से चुने हैं—सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, नैतिक समाज-सुधार की भावना ही इनमें प्रधान होती थी और हास्य, व्यंग्य-युक्त मार्मिक-ओजस्वी उक्तियों द्वारा इन लेखों को रोचक और प्रभावकारी बनाया जाता था। दूसरे ढंग के सांस्कृतिक निबन्ध प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण, पर्व-त्यौहार, जीवन-चरित, इतिहास और नीति से सम्बन्ध रखते हैं। प्रायः सभी लेखकों ने इन विषयों पर भी लिखा है। परन्तु ये निबन्ध बहुधा उपदेशात्मक हैं। साहित्यिक निबन्धों की प्रथा अभी नहीं चली थी। केवल कुछ ही निबन्ध लिखे गए, परन्तु जो भी मिलते हैं, विवेचन-कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ही हिन्दी के प्रथम निबन्धकार भी हैं। उन्होंने अपने सामाजिक निबन्धों में धार्मिक पाखण्डों और अन्धविश्वासों का घोर विरोध किया। देश और समाज की उन्नति के लिए वे इन पाखण्डों का त्याग और एकता की भावना के व्यापक प्रसार की आवश्यकता समझते थे। उनकी शैली नाटकीय थी, जिसे वे व्यंग्य-हास्य-व्यंजक विशेषणों, विलक्षण आरोपों और अतिशयोक्तियों से चमत्कारपूर्ण तथा प्रभावोत्पादक बनाते थे। उनके सांस्कृतिक निबन्ध प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन से सम्बन्ध रखते हैं। अपनी यात्राओं के वर्णन उन्होंने अत्यन्त सजीव किये हैं। यात्रा में आये प्रदेशों के रीति-रिवाज, सामाजिक पतन, सरकारी कर्मचारियों की धाँधली आदि और दर्शनीय स्थानों की प्राकृतिक छटा का कोई ब्यौरा उनकी सूक्ष्म दृष्टि से नहीं छूटा। भारतेन्दु के निबन्ध विचारात्मक और व्याख्यात्मक शैली के हैं, किन्तु उनमें पर्याप्त व्यंग्यात्मकता है।

बालकृष्ण भट्ट असामान्य रूप से स्वतन्त्रद्रष्टा विचारक थे तथा परि-

वर्तन और प्रगति के समर्थक और परम्परा-निर्वाह के घोर विरोधी थे। इनके निबन्ध सामाजिक-राजनीतिक-नैतिक विषयों के अतिरिक्त मनोवैज्ञानिक और साहित्यिक विषयों पर भी हैं और उन्होंने विश्लेषणात्मक, व्यंग्यात्मक तथा भावात्मक शैलियों का भी प्रयोग किया है। इतने विविध विषयों पर इतने विविध ढंगों से हिन्दी में कम लेखकों ने निबन्ध लिखे हैं। उनकी शैली व्यक्तिनिष्ठ है और भाषा, विषय तथा प्रतिपादन सभी पर आपके व्यक्तित्व की छाप है। उनके निबन्धों के आकर्षक शीर्षक ही उनके मनमौजी स्वभाव के प्रमाण हैं : 'माँगबो भलो न बाप से जो बिधि राखै टेक', 'रोटी तो किसी भाँत कमा खायँ मुछन्दर' या 'कौतुक', 'बातचीत', 'दीन', 'आँख', 'खटका', 'जवान' आदि। आपके विश्लेषणात्मक लेखों में तर्क-सूत्र व्यवस्थित ढंग से चलता है, किन्तु अन्य निबन्ध में कहीं-कहीं सिलसिला टूट जाता है। भट्टजी स्वतन्त्र विचारक तो इतने थे कि उस ज़माने में भी 'संतति-नियमन' का समर्थन करते थे और शास्त्र-वचन को बिना जाँचे-परखे प्रमाण न मानते थे। उनका पत्र 'हिन्दी-प्रदीप' उनके निबन्धों के कारण खूब लोकप्रिय हुआ था।

प्रतापनारायण मिश्र बालकृष्ण भट्ट के सहयोगी थे; वैसे ही विनोदी और स्वच्छन्द स्वभाव के विचारक थे। उनके निबन्ध 'ब्राह्मण' में छपते थे, जिसका सम्पादन वह स्वयं करते थे। भारतेन्दु के निबन्धों की तरह इनके स्वभाव का फक्कड़पन भी इनकी गद्य-शैली में लक्षित होता है। भाषा में जहाँ-तहाँ बैसवाड़ी बोली के शब्द और ग्रामीण मुहावरे और कहावतें भी मिलती हैं। व्याकरण और भाषा की मर्यादा का पालन करना उनकी स्वच्छन्द प्रकृति के अनुकूल न था। अपने विचारों को मार्मिकता और व्यंग्यात्मकता से उपस्थित करना ही उन्हें अभीष्ट था। इसीलिए उनकी शैली में इतनी आत्मीयता और बाँकपन है। निबन्धों के शीर्षक भी उनके मनमौजीपन के प्रतीक हैं—'दाँत', 'भौं', 'धोखा', 'बालक', 'पंच परमेश्वर' आदि। परन्तु शीर्षक से बँधकर

वह न लिखते थे। चाहे जिस शीर्षक के अन्तर्गत वह अपने निबन्धों में स्वच्छन्द रूप से विलायत-यात्रा, समाज की उन्नति, स्वधर्म, देश-सेवा और स्वभाषा-प्रेम आदि की भी चर्चा कर डालते थे। 'निबन्ध-नवनीत', 'प्रताप-पीयूष' तथा 'प्रताप-समुच्चय' नाम से मिश्रजी के तीन संग्रह प्रकाशित हुए हैं।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्य हिन्दी-निबन्धकारों में 'आनन्द-कादम्बिनी' के सम्पादक बदरीनारायण 'प्रेमघन' तथा दूसरे लेखकों ने जो निबन्ध या टिप्पणियाँ लिखीं वे साधारण कोटि की ही हैं। इसके बाद आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के समय में ही हिन्दी-निबन्धों का सम्यक विकास हुआ।

सन् १६०० में 'सरस्वती' के प्रकाशन से हिन्दी में साहित्यिक पत्रिकाओं का सूत्रपात हुआ। तब से निबन्धों में 'साहित्यिकता' अधिक और ज़िन्दादिली कम होती गई। आचार्य द्विवेदी ने १६०३ में सरस्वती का सम्पादन सँभाला और हिन्दी भाषा के संस्कार में जुट गए। उनके अथक उद्योग और पाण्डित्य के प्रभाव से भाषा में एकरूपता आने लगी और निबन्धों का स्वर गम्भीर हो चला। फलतः निबन्धों के विषय भी गम्भीर होने लगे और हिन्दी निबन्ध का रंग-रूप वही न रहा जो भारतेन्दु के समय में था। मासिक पत्रों में गम्भीर निबन्ध और साप्ताहिक-दैनिक पत्रों में ओजपूर्ण राजनीतिक निबन्ध छपने लगे। इस प्रकार साहित्यिक निबन्ध अधिक संभ्रान्त और शिष्ट समाज की वस्तु बन गया। फलतः हिन्दी-निबन्धों की शैली में पहले-जैसी हार्दिकता, ज़िन्दादिली और आत्मीयता न रही। हिन्दी भाषा और साहित्य की समृद्धि के लिए ज्ञान-संचय की अनिवार्यता बढ़ गई थी। विविध विषयों पर भारतीय तथा पाश्चात्य साहित्यों में उपलब्ध ज्ञान-राशि को हिन्दी में लाना साहित्यिक कार्यशीलता का महत्त्वपूर्ण अंग हो गया था

इस बीच जो निबन्धकार सामने आये उनमें आचार्य **महावीर-प्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्र बन्धु,**

पद्मसिंह शर्मा तथा **आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** के अतिरिक्त **माधव-प्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी** और **सरदार पूर्णसिंह** के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

आचार्य द्विवेदीजी के समय से हिन्दी में साहित्यालोचना का स्वतन्त्र विकास शुरू हुआ और आलोचनात्मक निबन्धों की परिपाटी चल पड़ी। इस प्रकार ललित निबन्ध और तथ्य-निरूपक निबन्ध का भेद स्पष्ट हो गया, और दोनों वर्गों के निबन्ध अलग-अलग विकास करने लगे। अतः इस प्रकरण में हम केवल 'ललित निबन्धों' की धारा पर ही विचार करेंगे, आलोचनात्मक निबन्धों पर अगले प्रकरण 'हिन्दी-आलोचना' में प्रसंगवश विचार होगा ही।

आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी अधिकतर पाश्चात्य लेखकों की रचनाओं में प्राप्त ज्ञान को अपने लेखों में संकलित करके हिन्दी के पाठकों का ज्ञान-वर्धन करते रहे। उनके मौलिक चिन्तन से लिखे साहि-त्यिक निबन्ध कम ही हैं, जैसे 'दण्डदेव का आत्म-निवेदन', 'कालिदास का भारत', 'गोपियों की भगवद्भक्ति' या 'नल का दुस्तर दूतकार्य'। इन निबन्धों की शैली रोचक है और उनमें किंचित् आत्मीयता भी मिलती है। इसी प्रकार **बाबू श्यामसुन्दरदास, मिश्र बन्धु, बाबू गुलाबराय, पद्मसिंह शर्मा, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल** और **पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी** के अधिकतर निबन्ध सैद्धान्तिक और आलोचनात्मक हैं, और ललित निबंधों की कोटि में नहीं आते। अलबत्ता बाबू गुलाबराय के विनोदमयी शैली में लिखे संस्मरणात्मक निबंध, पद्मसिंह शर्मा की फड़-कती शैली में लिखी जीवनियाँ और संस्मरणात्मक निबंध और पदुमलाल पुन्नाला बख्शी के व्यक्तिनिष्ठ निबंध और शुक्लजी के 'करुणा', 'श्रद्धा-भक्ति', 'लोभ और प्रीति' आदि गम्भीर विवेचनात्मक लेख ही इस प्रकरण में उल्लेखनीय हैं। किन्तु आचार्य द्विवेदी के समकालीन लेखकों में से जिन्होंने शुद्ध ललित निबंधों की रचना की उनमें माधवप्रसाद मिश्र, चन्द्रधर शर्मा गुलेरी और सरदार पूर्णसिंह के नाम अग्रगण्य हैं।

यद्यपि परिमाण में इन निबंधकारों ने कम लिखा है, लेकिन उन्होंने भारतेन्दु के समकालीन लेखकों की तरह आत्मीय ढंग से उच्चकोटि के निबंध रचे।

बालमुकुन्द गुप्त 'भारत-मित्र' के सम्पादक थे। पहले वह उर्दू-पत्रों का सम्पादन कर चुके थे और स्वयं उर्दू के अच्छे लेखक थे। इसीलिए उनकी भाषा में एक विशेष परिष्कार है। व्यंग्य शालीन और सांकेतिक है। उनकी भाषा मुहावरेदार और वाक्य सरल, चुस्त और अर्थपूर्ण होते हैं। हिंदी की गद्य-शैली के निर्माण में गुप्तजी का ऊँचा स्थान है। आप संयत, पर चुभता हुआ, विनोद लिखते थे। 'भारत-मित्र' में 'शिव शंभू का चिट्ठा' नाम से आपने जो लेख लिखे उनको आज भी लोग चाव से पढ़ते हैं। उनमें गुप्तजी ने हास्य-विनोद के माध्यम से अपने हृदय का क्षोभ और दुख भी व्यक्त कर दिया है। आपके साहित्यिक निबंध हिंदी भाषा, लिपि, व्याकरण, राष्ट्र-भाषा आदि के प्रश्नों से सम्बंध रखते हैं।

माधवप्रसाद मिश्र वास्तव में भारतेन्दु और बालमुकुन्द गुप्त के समकालीन थे, परन्तु वे प्रवृत्ति से भिन्न कोटि के निबन्धकार हैं—भावनापूर्ण, जिससे वे अपने परवर्ती निबन्धकारों के अधिक निकट हैं। भावना का आवेश, माधुर्य और क्रमागत भावों का सरस चित्रण उनकी शैली की विशेषता है। उनके त्यौहारों, तीर्थस्थानों पर लिखे निबन्ध भारतेन्दु के अन्य समकालीन लेखकों से अधिक विद्वत्तापूर्ण और मार्मिक हैं। 'माधव मिश्र निबन्ध माला' के नाम से आपके निबन्धों का संकलन छप चुका है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने यद्यपि बहुत कम लिखा है, किन्तु जैसे उनकी कहानी 'उसने कहा था' अद्वितीय है, वैसे ही उनके निबन्ध भी अनूठे हैं। उनमें केवल लेखक की प्रगतिशील चेतना की ही छाप नहीं है, बल्कि शैली भी अत्यधिक सुष्ठु और परिमार्जित है। उनका व्यंग भी पहले की अपेक्षा अधिक परिष्कृत और शक्तिशाली है। 'मारेसि मोंहि

कुठाँव', 'कलुआ धरम' और 'संगीत' आदि निबन्धों में समाज की रूढ़िवादिता आदि पर तीखे, पर शिष्ट व्यंग्यों से, प्रहार किया गया है। इनकी शैली का चमत्कार अनुभव करने की वस्तु है।

सरदार पूर्णसिंह ने भी माधवप्रसाद मिश्र की तरह भावनात्मक निबन्धों की रचना की है। इनका दृष्टिकोण मानवतावादी था और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की उदार भावना आपके निबन्धों की विशेषता है। आपके निकट सभ्य आचरण, प्रेम और श्रम का आत्यन्तिक महत्त्व था। इसी का उपदेश आप देते रहे। आपके निबन्धों की शैली मूर्त्त-चित्रों का विधान करते हुए आगे बढ़ती है और पाठक पर गहरा प्रभाव डालती है। उनके लेख बहुत कम परिमाण में उपलब्ध हैं, इनमें से 'आचरण की सभ्यता', 'सच्ची वीरता' अधिक प्रसिद्ध हैं।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एक भिन्न कोटि के निबन्धकार थे। शुद्ध आलोचनात्मक निबन्धों के अतिरिक्त आपने मनोविकार-सम्बन्धी अनेकों निबन्ध लिखे हैं, जैसे 'चिन्ता', 'श्रद्धा', 'करुणा', क्रोध' आदि। इन व्याख्यात्मक निबन्धों में भी उन्होंने व्यंग-विनोद के छींटे बिखेरे हैं और अनेक स्थानों पर संस्मरणात्मक संकेत भी दिये हैं। इन निबन्धों में एक स्वतन्त्र चिन्तन और भावुक हृदय के समन्वित योग से प्रतिपाद्य विषय में इतनी गम्भीर सार्थकता और उदात्त भावना आ गई है कि पाठक को नई उपलब्धि होती है। इस प्रकार शुक्लजी ने विवेचनात्मक गद्य-शैली को एक नया ही रूप-संस्कार दिया।

हिन्दी में प्रभाववादी आलोचकों में **शान्तिप्रिय द्विवेदी** प्रमुख हैं। इनके आलोचनात्मक लेख आलोचना कम और निबन्ध अधिक होते हैं। इनका स्वच्छन्द और संवेदनशील हृदय साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा में नहीं रमता, बल्कि एक भावुक की तरह साहित्य से प्रभाव ग्रहण करता है। एक कोमल हृदय से निःसृत मानववाद की झलक इनके निबन्धों में भी मिलती है।

छायावाद के प्रमुख कवियों में प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी

ने भी आलोचनात्मक निबन्धों की रचना की है। साहित्य-दर्शन की मौलिक विचारधारा उपस्थित करने के अतिरिक्त, कलात्मक निबन्धों के रूप में भी उनका महत्त्व है। छायावाद की स्वच्छन्दतावादी मनोभूमि से लिखे इन निबन्धों में वैयक्तिक असन्तोष और विद्रोह का स्वर रह-रहकर सुनाई देता है—विशेषकर निराला के निबन्धों में।

पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के आलोचनात्मक लेखों के अतिरिक्त उनके वैयक्तिक निबन्ध 'कुछ' तथा 'और कुछ' नाम से प्रकाशित संग्रहों में मिलते हैं। इन निबन्धों में चरित्र-चित्रण की विधि अपनाकर नाटकीय और रोचक शैली में साहित्य, धर्म, जीवन और समाज के प्रश्नों पर बख्शी जी ने आत्मीय ढंग से विचार किया है। आपकी शैली पर अंग्रेजी लेखक गार्डिनर तथा रवीन्द्रनाथ ठाकुर का प्रभाव है।

सियारामशरण गुप्त का व्यक्तित्व जितना सरल और सात्विक है उनके निबन्धों में भी उतनी ही सरलता और एक सात्विक भावुकता और चिन्तन प्रकट होता है। उन पर गांधीवाद का गहरा प्रभाव है जिससे वे अपने निबन्धों में दिखावटी शिष्टाचार और सामाजिक आडम्बरों पर व्यंग तो करते हैं, किन्तु उनमें तीखापन न होकर सरस विनोद और आत्मीय सहानुभूति की मात्रा अधिक रहती है। आपका 'झूठ-सच' नाम का निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुका है।

चन्द्रधर शर्मा गुलेरी के पश्चात् साहित्यिक निबन्ध के क्षेत्र में **आचार्य हज़ारीप्रसाद द्विवेदी** की प्रतिभा अद्वितीय है। गुलेरीजी-जैसी ही विद्वत्ता और ऐतिहासिक चेतना द्विवेदीजी को भी सहज प्राप्त है। साथ ही एक सरल कवि-हृदय भी है जिससे उनके निबन्धों में एक व्यापक चेतना और उदात्त मानववादी स्वर मिलता है। उन्होंने साहित्य, समाज, संस्कृति, ज्योतिष आदि विषयों पर अनेक निबन्ध लिखे हैं जो 'कल्पलता' और 'अशोक के फूल' संग्रहों में छपे हैं। 'आम फिर बौरा गए', 'एक कुत्ता और एक मैना', 'नाखून क्यों बढ़ते हैं', आदि विषयों पर लिखते समय वे रस-विह्वल होकर अतीत में डुबकियाँ लगाते हैं और

भारतीय जीवन की मानववादी परम्परा से मोती निकालकर, सामन्ती वर्ग-समाज की सीपियों को उतारकर फेंकते हैं। द्विवेदी जी के निबन्धों का अपनी अतिशय आत्मीयता, शैली की सरस गम्भीरता तथा उदात्त मानववाद के कारण हिन्दी-साहित्य में शीर्ष स्थान है।

जैनेन्द्रकुमार अपने ढंग के एक ही निबन्धकार हैं। आपके अधिकांश निबन्ध दार्शनिक कोटि के हैं किन्तु कुछ निबन्ध ऐसे भी हैं जिनमें वे एक दार्शनिक की ऊँचाई से नहीं, बल्कि सहज मानवीय स्तर पर पाठक से आसने-सामने बैठकर प्रश्नोत्तर की शैली में बातचीत करते हैं। आपकी शैली की विशेषता यह है कि आत्मीय और खुले दिल से आप गम्भीर नैतिक, सामाजिक प्रश्न उठाकर उतने ही आत्मीय और खुले ढंग से श्रोता को बहस में भाग लेने के लिए आमन्त्रित करते हैं, और इस प्रकार वाद-प्रतिवाद के माध्यम से समस्या का उद्घाटन-विवेचन करते हुए उसे समाधान की ओर ले जाते हैं। व्यंग और संकेत का सहारा देकर आप समस्या को सदा नैतिक धरातल पर उठा देते हैं, नैतिक समाधान ही खोजते हैं। 'बाज़ार-दर्शन', 'आप क्या करते हैं', 'कहानी नहीं' आदि ऐसे ही उच्चकोटि के निबन्ध हैं।

पुराने लेखकों में द्विवेदीजी के समय से ही निबन्ध-लेखन की दो और प्रवृत्तियाँ चली आती हैं—एक गद्य-काव्यात्मक निबन्धों की और दूसरी संस्मरणात्मक निबन्धों की।

गद्य-काव्यात्मक निबन्धों को भावात्मक निबन्ध भी कहा जाता है। यों तो भारतेन्दु और बालकृष्ण भट्ट ने भी भावात्मक निबन्ध लिखे थे, किन्तु उनमें शैली की अलंकारिता ही प्रधान थी। किन्तु रायकृष्णदास, वियोगी हरि, चतुरसेन शास्त्री, पं० माखनलाल चतुर्वेदी, डॉ० रघुबीरसिंह तथा अनेक नये लेखकों ने भी लघुकाय गद्य-काव्यात्मक निबन्ध लिखे हैं। **रायकृष्णदास, वियोगी हरि और चतुरसेन शास्त्री** के गद्य-काव्य प्रतीकात्मक हैं। उनमें भाषा-शैली की नवीनता तो है ही, भावोच्छ्वास और सूक्ष्म व्यंजना भी है। किन्तु **माखनलाल चतुर्वेदी** की भावनात्मक

रचनाएँ आध्यात्मिक प्रेम तथा राष्ट्रीयता के रंग में रँगी हैं। डॉ० **रघुवीरसिंह** के दो संग्रह 'बिखरे फूल' और 'शेष स्मृतियाँ' हैं। इनके गद्य-गीतों की शैली औरों से भिन्न है। उनमें भावनाओं की दुरूहता नहीं। 'शेष स्मृत्तियाँ' तो इसलिए भी उल्लेखनीय है, क्योंकि इसके गद्य-काव्यों में मुग़ल-राज्यवंश के उत्थान-पतन के ऐतिहासिक इतिवृत्त का मानवीय तथा कलात्मक अंकन है।

संस्मरणात्मक निबन्धों की परम्परा स्वर्गीय पद्मसिंह शर्मा और बाबू गुलाबराय ने चलाई। इनके बाद पं० बनारसीदास चतुर्वेदी, ब्रजमोहन वर्मा, मोहनलाल महतो 'वियोगी', महादेवी वर्मा आदि ने अनेक सुन्दर संस्मरणात्मक निबन्ध लिखे।

बाबू गुलाबराय के संस्मरणात्मक निबन्ध 'मेरी असफलताएँ' पुस्तक में संग्रहीत हैं। इसमें उन्होंने अपने व्यक्तिगत जीवन के संस्मरणों को इस प्रकार संजोया है कि पूरा संग्रह व्यंग-विनोदमयी शैली में उनका अपना क्रम-बद्ध आत्मचरित्र बन जाता है।

महादेवी वर्मा के 'अतीत के चलचित्र' और 'स्मृति की रेखाएँ' उनके सहज, करुणा-सुलभ नारी-हृदय का प्रतिबिम्ब हैं। इनमें उन्होंने समाज के पीड़ित, उपेक्षित, अभावग्रस्त व्यक्तियों के अत्यन्त मार्मिक संस्मरणात्मक चित्र दिये हैं। उनकी शैली में काव्य की संवेदनशीलता और चित्रोपमता है। ये संस्मरण और रेखा-चित्र हिंदी-साहित्य में अनूठे हैं।

राहुल सांकृत्यायन, देवेन्द्र सत्यार्थी आदि ने वर्णनात्मक निबन्धों द्वारा अपनी यात्राओं के विवरण प्रस्तुत किये हैं और श्री सद्गुरुशरण अवस्थी, भगवतीचरण वर्मा, भदन्त आनन्द कौशल्यायन आदि ने अपने-अपने ढंग के सुन्दर निबन्ध लिखे हैं। श्री भदन्त आनन्द कौशल्यायन के 'जो न भूल सका', 'जो लिखना पड़ा', 'रेल का टिकट' निबन्ध-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं।

प्रकाशचन्द्र गुप्त, रामवृक्ष बेनीपुरी ('माटी की मूरतें', 'गेहूँ और

गुलाब') उदयशंकर भट्ट, विष्णु प्रभाकर, उपेन्द्रनाथ अश्क आदि के रेखाचित्र भी निबन्धों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं। प्रभाकर माचवे के 'खरगोश के सींग' तथा 'कुट्टिचातन' के निबन्ध भी नई शैली का नमूना रखते हैं।

हिन्दी-निबन्धों के इस संक्षिप्त परिचय से स्पष्ट है कि हमारे निबंधकार अनेक दिशाओं से, अनेक प्रवृत्तियों और मनोभूमियों को लेकर निबंध-रचना कर रहे हैं, और अपने जीवनानुभव को पाठकों तक प्रेषित करने के लिए अनेक शैलियाँ और माध्यम अपना रहे हैं। किन्तु फिर भी समग्र रूप से देखने पर यह नहीं कहा जा सकता कि हिन्दी के अन्य गद्य-रूपों की अपेक्षा निबन्धों का पर्याप्त विकास हो चुका है।

सात

●

आलोचना का विकास—

भारत की प्राचीन सांस्कृतिक परम्परा तथा राष्ट्रीय जागरण की व्यापक, चेतन प्रेरणाओं से अपना अन्तःसंस्कार करते हुए हिंदी-साहित्य की विशिष्ट विकास-स्थितियों के समानान्तर हिंदी-आलोचना ने भी प्रगति की है; इन विकास-स्थितियों के अनुरूप ही हिंदी-आलोचना में भी नई-नई उद्भावनाएँ होती रही हैं और साहित्य को नई स्फूर्ति, गति और दिशा देने में योग या बाधा देती आई हैं। साधारण विद्यार्थी के लिए भी यह सर्वथा अनुमेय होना चाहिए कि 'आलोचना' यदि साहित्य या कला की होती है तो पहले साहित्य या कला का इतना विकास और निर्माण हो जाना चाहिए कि वह आलोच्य हो सके।

व्यापक अर्थों में आलोचना मनुष्य की आत्म-चेतना है—साहित्य और कला के रूप में निर्माण की हुई अपनी अर्थवान् 'रचना' के सुन्दर-असुन्दर, शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य पक्षों के प्रति जाग्रत हुई चेतना है। इसके परिणामस्वरूप ही मूल्य-निरूपण के मानदण्ड और सिद्धान्त बनते हैं। ये मानदण्ड और सिद्धान्त बदलते जाते हैं, जिस प्रकार देश-काल की विशिष्ट परिस्थितियों से व्यापक प्रभाव ग्रहण करके साहित्य और कला की प्रवृत्तियाँ बदलती जाती हैं और इस प्रकार समग्र अन्तर्बाह्य

जीवन के सत्य या वास्तविकता का मूर्त्त छवियों की भाषा में युगानुकूल आकलन करती जाती हैं। किन्तु एक बार जब आलोचना का जन्म हो जाता है तो वह साहित्य-कला की केवल तटस्थ व्याख्याता या निरपेक्ष द्रष्टा ही नहीं बनी रहती। सांस्कृतिक परम्परा और मनुष्य के अर्जित ज्ञान का समाहार करके और वर्तमान की ऐतिहासिक चेतना लेकर संवेदन-शील, युग-द्रष्टा आलोचक प्राचीन और सामयिक साहित्य की कृतियों का मूल्य आँकते हुए नये व्याख्या-सूत्रों की उद्भावना भी करता है, जिससे आलोचना केवल पाठकों को साहित्य की कृतियों से पूरे सौन्दर्य मूल्य तथा चेतना-विकासी मानव-संवेदन प्राप्त करने में ही सहायता नहीं देती, बल्कि साहित्यकारों को भी नई अन्तर्दृष्टि प्रदान करके उनके आगे रचना के नये क्षेत्र और सीमान्त खोल देती हैं। आलोचना एक सक्रिय शक्ति है जो साहित्य और कला की धाराओं का आवश्यकतानुसार नियंत्रण करती है तो साहित्य और कला में नई प्रवृत्तियों और धाराओं को विकास के लिए प्रोत्साहन और प्रेरणा भी देती है। इस प्रकार आलोचना स्वयं एक रचनात्मक क्रिया है। परन्तु अपने विकृत रूप में आलोचना साहित्य और कला की प्रगति में बाधक भी बन सकती है, जिस प्रकार साहित्य या कला की प्रवृत्तियाँ विकारग्रस्त होकर जीवन के विकृत चित्र उपस्थित करने लगती हैं और पाठक या द्रष्टा की मानवीय संवेदना और चेतना को कुण्ठित करके जीवन के मूल्यों को सस्ता और निम्नकोटि का बना देती हैं। साहित्य और आलोचना अपने विशिष्ट क्षेत्र में इसी क्रिया-प्रतिक्रियात्मक सम्बन्ध से विकास करते हैं।

साहित्यालोचन की एक समृद्ध भारतीय परम्परा है। भरतमुनि के समय से साहित्य-शास्त्र का निर्माण होता आया है। अनेक आचार्यों के दीर्घ-कालीन प्रयत्नों से क्रमशः रस, अलंकार, रीति, गुण, वक्रोक्ति और ध्वनि के सिद्धान्तों का निर्माण हुआ है। किन्तु जब हिन्दी-आलोचना का विकास हुआ उस समय संस्कृत काव्य-शास्त्र की यह महान् परम्परा विकृत हो चुकी थी। पण्डितराज जगन्नाथ के पश्चात् सत्रहवीं शताब्दी से

ही यह विकृति शुरू हो गई थी और मध्ययुग के ह्रासकालीन दरबारों के वातावरण में पली आलोचना की रीति-परम्परा रस के उपकरणों को लेकर नायिका-भेद, नखशिख-वर्णन और ऋतु-वर्णन में ही सीमित हो गई। दरबारी रीति-काव्य के साथ-साथ सामान्य जनता में बहुत पहले से सन्त कवियों द्वारा प्रवाहित भक्ति-काव्य की धारा भी चलती आ रही थी, परन्तु वह भी दरबारी संस्कृत के प्रभाव से सर्वथा मुक्त न थी, भक्ति-काव्य में भी आध्यात्मिक नायक-नायिकाओं का भेद प्रकट हो चुका था। रीतिकालीन आलोचना वामन और मम्मट के व्यापक सिद्धान्तों और अभिप्रायों को त्यागकर केवल रूपवादी हो गई थी, और काव्य में नियमानुसार विभावों-अनुभावों की योजना, संचारी-व्यभिचारी भावों का रीतिबद्ध निरूपण और अलंकार-प्रदर्शन ही मुख्य था। आचार्य केशवदास ने अलंकारों पर ज़ोर दिया और काव्य-रचना की इन रीति-पद्धतियों के व्यापक प्रचलन के फलस्वरूप कवि गण सुघड़ शब्द-योजना और उक्ति-चमत्कार की ओर मुड़े। परन्तु इससे अधिक आगे बढ़कर साहित्य के मूल्य आँकने की कोई दृष्टि इस पद्धति ने नहीं दी। जब आचार्य द्विवेदी के काल में हिन्दी में आलोचना की परम्परा का सूत्रपात हुआ, उस समय हिन्दी-आलोचकों को प्रचलित परम्परा के रूप में रस-अलंकार के गुण-दोष दिखाकर विवेच्य रचना को अच्छी या बुरी सिद्ध करने वाली रीतिवादी पद्धति विरासत में मिली।

आचार्य द्विवेदी से पूर्व यों तो भारतेन्दु के समय में ही अनूदित पुस्तकों की समीक्षाएँ[1] पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होने लगी थीं, किन्तु हिन्दी आलोचना की अविच्छिन्न परम्परा का सूत्रपात द्विवेदीजी के समय से ही शुरू होता है। आचार्य द्विवेदी मूलतः एक शिक्षक, संशोधक और

---

१. उदाहरण के लिए बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' की पत्रिका 'आनन्दकादम्बिनी' में बालकृष्ण भट्ट ने श्रीनिवासदास के नाटक 'संयोगिता-स्वयंवर' की कड़ी आलोचना की थी।

सुधारक थे। भाषा का परिमार्जन करके उसका रूप स्थिर करने के साथ-साथ उन्होंने सामाजिक उत्थान और देश-प्रेम के साहित्य को भी प्रेरणा दी और एक नया काव्यादर्श सामने रखा। द्विवेदीजी ने रीति-काव्य की परम्परा के स्थान पर तुलसी-सूर के भक्ति-काव्य की परम्परा को अधिक श्रेष्ठ और अनुकरणीय माना। एक ओर यदि वे कालिदास और भवभूति के प्रशंसक थे तो दूसरी ओर भारतेन्दु और मैथिलीशरण गुप्त का भी आदर करते थे। इस काव्यादर्श का आधार उनकी आदर्शवादी भावना थी, परन्तु उनकी आलोचना-शैली पर गुण-दोष विवेचन वाली पुरानी पद्धति का पूरा प्रभाव था। 'कालिदास की निरंकुशता' पुस्तक में उन्होंने गुण-दोष दिखाने वाली शैली में ही कालिदास की मूल रचनाओं में से भाषा और व्याकरण के दोषों का संग्रह किया है। उनकी अन्य समीक्षा-पुस्तकें 'विक्रमांकदेव-चरितचर्चा' और 'नैषधचरितचर्चा' हैं जिनमें प्रशंसात्मक शैली में कविताओं का परिचय दिया गया है। इनके अतिरिक्त अपने लेखों और टिप्पणियों में उन्होंने साहित्य की नई प्रवृत्तियों और पुस्तकों की खरी, भावमय आलोचनाएँ लिखीं।

मिश्रबन्धुओं ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास का इतिवृत्त (मिश्रबन्धु विनोद) समाप्त करके 'हिन्दी-नवरत्न' नाम से एक आलोचनात्मक ग्रंथ लिखा, जिसमें उन्होंने 'देव' को सबसे बड़ा कवि सिद्ध किया। मिश्रबन्धुओं ने किंचित हेर-फेर के साथ साहित्य के रीतिकालीन प्रतिमानों का ही प्रयोग किया था। देव और बिहारी, या सूर और तुलसी की तुलना करते हुए उन्होंने बिहारी और सूर में दोष-ही-दोष ढूँढ़ने चाहे और किसी शब्द या उक्ति के आधार पर ही उन्हें कोसा।

'बिहारी' पर किये गए इस आक्रमण से प्रेरित होकर **पद्मसिंह शर्मा** ने, जो संस्कृत, उर्दू, फ़ारसी के परम विद्वान् और काव्य के रसज्ञ थे, बिहारी पर एक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक में बड़ी बारीकी से एक-एक शब्द और पद की अर्थ-व्यंजना का उद्घाटन करते हुए उन्होंने बिहारी के दोहों की तुलना उनके जैसे ही उर्दू, हिन्दी और संस्कृत के कवियों

से की। उनका ढंग अनूठा, मार्मिक और चमत्कारपूर्ण है। इसका परिणाम यह हुआ कि तुलनात्मक आलोचना की ओर लोगों का आकर्षण बढ़ा, साथ ही नये छायावादी कवियों ने अपने भाषा-प्रयोगों को अधिक माँजने की ओर ध्यान दिया।

पद्मसिंह शर्मा की आलोचना से हिन्दी में 'देव और बिहारी' का झगड़ा खड़ा हो गया। पं० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' लिखकर दोनों कवियों की कविताओं की तुलना संयत तथा मार्मिक विवेचन द्वारा की, पर कहीं-कहीं बिहारी पर भद्दे आक्षेप भी किये। इसके उत्तर में लाला भगवानदीन ने 'बिहारी और देव' लिखी और मिश्रजी के आक्षेपों का उत्तर देते हुए बिहारी को बड़ा सिद्ध किया।

शुक्लजी के आलोचना-क्षेत्र में अवतीर्ण होने से पूर्व हिन्दी में तुलनात्मक आलोचना की प्रवृत्ति ही चलती रही, जिसने वास्तव में न कोई नया काव्यादर्श सामने रखा और न मूल्यांकन का ऐसा सिद्धान्त ही जिससे काव्य, नाटक, उपन्यास, कहानी के रूप में विकसित होने वाले नये हिन्दी-साहित्य की रचनाओं और प्रवृत्तियों का मूल्यांकन हो सकता। तुलनात्मक आलोचना रीति-पद्धति पर आधारित थी। ऐसी आलोचना अधिकतर पूर्वग्रह और लेखक की रुचि पर ही निर्भर करती है। लेखक का पक्षपात जिस कवि के साथ होता था उसे ही उठाया जाता था, और दूसरे को गिराया जाता था। आलोचक का ध्यान केवल रूप-विन्यास की सुघड़ता-कुरूपता पर रहता था, विषय-वस्तु पर नहीं।

आचार्य शुक्ल हिन्दी के युगद्रष्टा आलोचक हुए हैं। मिश्रजी या शर्मा जी की तुलनात्मक आलोचना को आपने प्रारम्भ से ही अग्राह्य माना। द्विवेदी जी की आलोचना में सामाजिक उत्थान में सहायता देने वाले साहित्य को महत्त्व देने की जो प्रवृत्ति थी, शुक्लजी स्वभावतः उसके अधिक समीप थे। उन्होंने सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर कवियों और उनकी कृतियों तथा साहित्य की सामान्य प्रवृत्तियों को परखा और

हिन्दी-आलोचना का अभिनव ढंग से विकास किया। उनका समीक्षा-दर्श आज चाहे पूरी तरह मान्य न हो, किन्तु इतना तो निर्विवाद है कि उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा से सैद्धान्तिक समीक्षा के हर पहलू का गम्भीरतम विवेचन किया है और अपनी नई-नई उद्भावनाओं द्वारा हिन्दी-आलोचना को नई दृष्टि और अर्थगौरव दिया है। शुक्ल जी के दो सिद्धन्त उल्लेखनीय हैं—'काव्यात्मक लोकवाद' का सिद्धान्त और 'साधारणीकरण' का सिद्धान्त। काव्यात्मक लोकवाद के सिद्धान्त का आधार यह है कि काव्य में भाव की सत्ता व्यवहार-निरपेक्ष नहीं हो सकती, सामान्य लोक-भूमि पर ही काव्य की भाव-सत्ता स्थापित होती है, अतः कोरी वैयक्तिक अनुभूति का साहित्य में कोई मूल्य नहीं। 'साधारणीकरण' के सिद्धान्त में उन्होंने प्रतिपादित किया कि काव्य-वस्तु या विषय-चित्रण के अनुसार साधारणीकरण भी कई भूमियों पर होता है। जो सत् है या सत् का प्रतीक है उसके चित्रण में पाठक या श्रोता की चित्तवृत्ति सहज ही रमती है, रसानुभव करती है, किन्तु असत् के चित्रण में मनुष्य की वृत्ति या तो रमती ही नहीं या आंशिक रूप से ही रमती है, इसलिए रसानुभव अंशतः ही सम्भव होता है। इस उपपत्ति में उनके नीतिवादी दृष्टिकोण की पूरी झलक है।

शुक्लजी का दृष्टिकोण नीतिवादी था। वर्णाश्रम-धर्म-व्यवस्था और अवतारवाद में उनकी पूरी आस्था थी। नीतिवादी दृष्टिकोण से ही कृष्ण के बजाय राम उनके आदर्श थे। इसका प्रभाव उनकी साहित्य-समीक्षा पर भी पड़ा। सूर से उन्होंने तुलसी को बड़ा कवि माना; कबीर और दूसरे निर्गुण-पंथी कवियों की सराहना करने में संकोच दिखाया। प्रगीत-काव्य की अपेक्षा प्रबन्ध-काव्य को श्रेष्ठ कहा। शुक्लजी के आलोचनात्मक दृष्टिकोण में उनकी वैयक्तिक रुचि के कारण और भी अनेक त्रुटियाँ हैं। प्रकृति-वर्णन के समर्थक होते हुए भी उन्होंने प्रकृति के स्थायी वर्ण्य-विषयों और वर्णन-प्रकारों का विवेचन करके एक विशेष ढंग के प्रकृति-वर्णन को ही श्रेष्ठ बताया है। नई काव्य-शैलियों का भी वे समर्थन न

कर सके, अर्थात् छायावाद को राष्ट्रीय-जागरण द्वारा प्रेरित समत्व की भावना, और नये पूँजीवादी समाज-सम्बन्धों के प्रति व्यक्ति के असन्तोष और प्रतिवाद की व्यंजना के रूप में वे न देख सके। वस्तु और शैली, भाव-पक्ष और अभिव्यंजना-पक्ष इन दोनों के अविच्छिन्न सम्बन्ध को भी वे न देख सके। वस्तुतः उन्होंने प्रतिपादित किया कि ये दोनों प्रक्रियाएँ आत्यन्तिक रूप से पृथक् हैं।

परन्तु इन सीमाओं के होते हुए भी शुक्लजी ने हिन्दी-आलोचना को जो दिया वह स्थायी मूल्य का है। उन्होंने साहित्य के सभी अंगों का सैद्धान्तिक विवेचन करके एक अपने में सम्पूर्ण साहित्य-शास्त्र का निर्माण किया। साथ ही उन्होंने तुलसी की सर्वथा मौलिक ढंग से व्याख्या की, सूर और जायसी के विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत किये, तथा हिन्दी-साहित्य का इतिहास एक नये ढंग से लिखा।[1]

बाबू श्यामसुन्दरदास और पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी शुक्लजी के ही समकालीन हैं। इन दोनों समालोचकों ने एक वैज्ञानिक की तरह पूर्व और पश्चिम के साहित्य-सिद्धान्तों का तटस्थ अनुशीलन करके काव्य और साहित्य के विविध अंग-उपांगों की व्याख्या की, या विश्व-साहित्य की रूपरेखा प्रस्तुत की। बाबू श्यामसुन्दरदास ने अपनी पुस्तक 'साहित्या-लोचन'[2] में साहित्य-सिद्धान्तों का और बख्शीजी ने 'विश्व-साहित्य' में विश्व-साहित्य, मुख्यतः अंग्रेजी साहित्य, का गम्भीर विवेचन किया। ये दोनों पुस्तकें यद्यपि पूर्णतः मौलिक न थीं, फिर भी उन्होंने, विशेषकर पहली पुस्तक ने, विद्यार्थियों को वैज्ञानिक ढंग से साहित्य और कला की प्रकृति समझने में सहायता दी।

---

१. शुक्लजी द्वारा लिखे मुख्य आलोचनात्मक ग्रन्थ इस प्रकार हैं—(१) हिन्दी-साहित्य का इतिहास, (२) तुलसी, (३) सूर, (४) जायसी ग्रन्थावली, (५) चिन्तामणि—दो भाग।

२. बाबू श्यामसुन्दरदास का 'हिन्दी-भाषा और साहित्य' भी श्रेष्ठ ग्रन्थ है।

शुक्लजी की समीक्षा-पद्धति को अपनाकर चलने वाले आलोचकों की संख्या पर्याप्त है। उनमें से अधिकांश ने शुक्लजी के दृष्टिकोण के नीतिवादी और व्यावहारिक पक्ष को तो न्यूनाधिक मात्रा में त्याग दिया है, किन्तु इसके स्थान पर किसी वस्तुनिष्ठ दृष्टिकोण का सम्यक् विकास नहीं किया, जिससे उनकी आलोचना-दृष्टि केवल साहित्य के भाव-पक्ष तक ही सीमित होकर रसवादी या शुद्ध-शास्त्रीय हो गई। वे साहित्य के व्यापक सामाजिक प्रयोजनों और मानव-मूल्यों से विशेष सरोकार नहीं रखते, यद्यपि उनके विरोधी नहीं हैं। इस प्रवृत्ति के आलोचकों में **पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, कृष्णशंकर शुक्ल, रामकृष्ण शुक्ल 'शिलीमुख', चन्द्रबली पाण्डेय और रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' हैं। बाबू गुलाबराय** भी शुक्लजी के अनुयायियों में ही परिगणित किये जाते हैं, यद्यपि उनके दृष्टिकोण में अपेक्षाकृत सामाजिक तत्व भी मिलते हैं।

शुक्लजी ने अपने नीतिवादी दृष्टिकोण और व्यक्तिगत रुचियों के कारण प्राचीन काव्य-शास्त्र के जिन सिद्धान्तों की वैयक्तिक व्याख्या की थी और साहित्य के नैतिक और व्यावहारिक पक्ष पर अत्यधिक ज़ोर देकर उसमें जो असंतुलन ला दिया था, अर्थात् व्यवहार-पक्ष के सामने भाव-पक्ष गौण पड़ गया था, और पाश्चात्य समीक्षकों के सिद्धान्तों का अपनी रुचि के अनुसार उपयोग करके निर्गुणपंथी सन्तों के रहस्यवाद तथा साहित्य की नई प्रवृत्तियों के प्रति अनुदारता दिखाकर दृष्टि की एकांगिता का जो परिचय दिया था—इन सब अभावों को दूर करके साहित्य-शास्त्र को पूर्णता देने के उद्देश्य से कई समालोचक आगे बढ़े। इनमें **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी[1], डा० रामकुमार वर्मा, डा० नगेन्द्र,**

---

१. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के आलोचनात्मक ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—(१) हिन्दी-साहित्य की भूमिका, (२) कबीर, (३) नाथ सम्प्रदाय, (४) विचार और वितर्क, (५) हिन्दी-साहित्य का इतिहास।

पं० नन्ददुलारे वाजपेयी[2] डा० सत्येन्द्र तथा लक्ष्मीनारायण 'सुधांशु', शान्तिप्रिय द्विवेदी आदि प्रमुख हैं। इन विद्वान् आलोचकों में साहित्यालोचन की कोई एक ही प्रवृत्ति नहीं पाई जाती और न वे सब समान रूप से ही शुक्लजी द्वारा उठाई साहित्य-शास्त्र की समस्याओं पर सर्वांग विचार करते हैं। अधिकतर सभी शुक्लजी द्वारा निर्देशित अथवा उपेक्षित एक-एक विषय को लेकर हिन्दी के साहित्य-शास्त्र की संपूर्ति में लगे हैं। इनमें **आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी** और **पं० नन्ददुलारे वाजपेयी** की आलोचना-दृष्टि अपेक्षया अधिक व्यापक और उदार है। दोनों स्वतन्त्र विचारक हैं। वे साहित्य को व्यापक और सामाजिक पृष्ठभूमि में रखकर देखते हैं और उनमें शुक्लजी का पूर्वग्रह भी नहीं है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का दृष्टिकोण मूलतः मानववादी है और पं० नन्ददुलारे वाजपेयी का शास्त्रीय तथा सौन्दर्यवादी। अलग-अलग दृष्टियों से दोनों हिन्दी के वर्तमान समालोचकों में सर्वश्रेष्ठ हैं। दोनों ही भिन्न-भिन्न दिशाओं से साहित्यालोचन की नई धारा 'प्रगतिवाद' के न्यूनाधिक समीप आते हैं, उसे अपनी सहानुभूति देते हैं, और साहित्य-कला-सम्बन्धी उसकी मूल स्थापनाओं को एक सीमा तक सही मानते हैं। किन्तु अभी तक दोनों में से किसी ने विस्तारपूर्वक अपने-अपने समन्वित दृष्टिकोण से शुक्लजी के अभावों की पूर्ति करने वाले सम्पूर्ण समीक्षा-शास्त्र की रचना नहीं की। नये समीक्षकों में डॉ० नगेन्द्र ने आधुनिक काव्य की काफी साफ-सुथरी समीक्षा की है।

डा० नगेन्द्र पर फ्रॉयड के मनोविश्लेषण-शास्त्र का भी प्रभाव है, और वे अपनी शास्त्रीय आलोचनाओं में उसका उपयोग भी करते हैं। **डा० सत्येन्द्र** अपने उदार सामाजिक दृष्टिकोण के कारण प्रगतिवाद की

---

२. पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के निम्न आलोचना ग्रंथ प्रसिद्ध हैं— (१) जयशंकरप्रसाद, (२) हिन्दी-साहित्य : बीसवीं सदी, (३) आधुनिक-साहित्य।

अनेक मान्यताओं को अपनाते हैं और शान्तिप्रिय द्विवेदी छायावाद के भाव-सौन्दर्य के अपने ढंग के व्याख्याता होने के कारण आलोचना की प्रभाववादी प्रवृत्ति के अधिक निकट हैं। डॉ० रामकुमार वर्मा ने भी कुछ शिक्षोपयोगी समीक्षाएँ लिखी हैं।

हिन्दी आलोचना की यह शास्त्रीय धारा गम्भीर मन्थर गति से साहित्य के प्राचीन और आधुनिक साहित्य के सभी अंगों को शास्त्रीय ढंग से परखती, समेटती, सहेजती आचार्य शुक्ल के नेतृत्व में और उनके बाद छोटी-बड़ी धाराओं में बँटकर बढ़ती रही। किन्तु इसी बीच, शुक्लजी के समय में ही, सन् १९३६–३७ के लगभग द्वितीय महायुद्ध के आसन्न संकट, युद्धोद्धत फासिज़्म के संस्कृति-विरोधी दृष्टिकोण, असहयोग आन्दोलन की असफलता और जनता के विक्षोभ, छायावाद की कविता में नये प्राण-संचार का अभाव, महादेवी और बच्चन के गीतों के निराशावादी उद्गार और जीवन की व्यापक समस्याओं के प्रति हिन्दी आलोचना की उदासीनता—इन सब ने मिलकर जहाँ राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन में गतिरोध और वैषम्य पैदा कर दिया, वहाँ प्रबुद्ध विचारकों में इस गतिरोध को तोड़कर नया मार्ग निकालने के लिए एक नई चेतना भी जगाई। पहले शिवदानसिंह चौहान ने अपने आलोचनात्मक निबन्धों में प्रगतिवाद की व्याख्या की, फिर प्रकाशचन्द्र गुप्त, डा० रामविलास शर्मा, नरेन्द्र शर्मा, नेमिचन्द जैन, अमृतराय, शमशेर बहादुरसिंह, नामवरसिंह, गोपालकृष्ण कौल आदि 'प्रगतिवाद' के और अनेक आलोचक आगे आये। प्रगतिवाद ने आलोचना की शास्त्रीय पद्धति को न अपनाकर हिन्दी आलोचना के सम्मुख साहित्य और समाज के सम्बन्ध का प्रश्न उठाकर साहित्य के प्रयोजन और साहित्यकार के सामाजिक दायित्व का प्रश्न उठाया; छायावाद की नई दृष्टि से व्याख्या करके छायावादी काव्य में मार्मिकता से व्यक्त हुए प्रतिवाद और असंतोष के स्वर को पहचाना और सामाजिक जीवन से साहित्य

और साहित्यकार के विलगाव का कारण स्पष्ट करके प्रगतिशील आन्दोलन द्वारा साहित्य को जीवन के निकट आने की प्रेरणा दी। इस समय प्रेमचन्द, पन्त, निराला आदि हिन्दी के शीर्ष-स्थानीय लेखक प्रगतिशील आन्दोलन में सम्मिलित हुए और पन्त, निराला ने नये दृष्टिकोण से काव्य-रचना शुरू की। ऐसा लगा कि छायावाद की भूमिका समाप्त होने से रचनात्मक साहित्य की धारा अभावग्रस्त न हो जायगी। किन्तु कुछ वर्षों के अन्दर ही प्रगतिवादी आलोचना कुछ दिनों के लिए संकीर्ण मतवाद की दिशा में पथभ्रष्ट हो गई। अब फिर प्रगतिवादी आलोचना अपने मूल सिद्धान्तों की ओर लौट रही है और अपने व्यापक सांस्कृतिक दायित्व को सँभालने की ओर कदम बढ़ा रही है। प्रगतिवाद की विचार-धारा का हिन्दी-आलोचना और आलोचकों पर व्यापक प्रभाव पड़ा है और सामान्यतः यह स्वीकार किया जाने लगा है कि रसानुभूति कराने के साथ-साथ साहित्य का व्यापक सामाजिक प्रयोजन भी होता है और साहित्य का कार्य जीवन के वस्तु-सत्य को कलात्मक अभिव्यक्ति देना है। अनेक स्वतन्त्रचेता आलोचक गम्भीर चिन्तन-मनन के द्वारा मन के शंका-सन्देशों से लड़ते हुए इस वस्तून्मुखी दृष्टिकोण की ओर बढ़ रहे हैं।

जिस राजनीतिक-सांस्कृतिक गतिरोध और विघटन की एक ओर समाजोन्मुजी आशामूलक प्रतिक्रिया हिन्दी-आलोचना में 'प्रगतिवाद' की मानववादी विचारधारा के रूप में प्रतिफलित हुई, उसकी व्यक्ति-मुखी, मूलतः कुण्ठामूलक प्रतिक्रिया हिन्दी-अलोचना में 'मनोविश्लेषणात्मक' विचारधारा को लेकर आगे बढ़ी। यह विचारधारा फ्रॉयड के मनोविश्ले-षण शास्त्र से प्रभावित है, तथा अपनी आलोचनात्मक स्थापनाओं में टी० एस० इलियट, हर्बर्ट रीड, सार्त्र आदि पाश्चात्य आलोचकों का अनुगमन करती है। **इलाचन्द्र जोशी, अज्ञेय** और एक सीमा तक **नलिन विलोचन शर्मा** आदि मनोविश्लेषणात्मक आलोचना के प्रमुख लेखक हैं। इन लेखकों की दृष्टि में व्यक्ति-मानस के अन्तर्द्वन्द्वों को

चित्रित करना ही कला का साध्य और प्रयोजन है। साहित्यालोचन के व्यापक प्रतिमानों की आवश्यकता से भी यह विचारधारा इन्कार करती है, क्योंकि इनके अनुसार प्रत्येक पाठक, श्रोता या आलोचक पूर्वग्रही होता है। अतः मनोविश्लेषणात्मक आलोचना-पद्धति अपनी निरर्थकता स्वयं ही विज्ञापित करती है।

हिन्दी-आलोचना का विकास इन शास्त्रीय पद्धतियों और नई विचारधाराओं के माध्यम से हुआ है और हो रहा है।

आठ

●

नये विकास की दिशाएँ

साहित्य के विभिन्न रूप-विधानों के माध्यम से हिन्दी-साहित्य ने अपने अस्सी वर्षों की काल अवधि में विकास की जो मंज़िलें पार की हैं और रचनात्मक क्षेत्र में जो सफलताएँ प्राप्त की हैं, संक्षेप में उसकी कहानी हम कह चुके। साहित्य के अन्तर्गत वैज्ञानिक और समाज-शास्त्रीय साहित्य नहीं आता, इसलिए इन क्षेत्रों में हिन्दी-भाषा के माध्यम से जो कार्य हुआ है या जो थोड़ा-बहुत वैज्ञानिक या समाज-शास्त्रीय साहित्य लिखा गया है, उसका उल्लेख हम ने नहीं किया है। पत्र-पत्रिकाओं के विकास का ब्यौरा भी हमने नहीं दिया, क्योंकि उनमें अपेक्षया स्थायी मूल्य की जो रचनाएँ प्रकाशित होती हैं, वे अन्ततः संग्रहीत होकर पुस्तकाकार प्राप्त हो ही जाती हैं, किन्तु जो केवल तत्सामयिक महत्व की होती हैं, और पुस्तकों में संग्रहीत होने की अधिकारिणी नहीं समझी जातीं उनका इतिहास में उल्लेख निरर्थक है। इसलिए हिन्दी-साहित्य के विकास की संक्षेप में बस इतनी-सी कहानी है।

किसी देश या जाति या भाषा के जीवन में अस्सी या सौ वर्ष बहुत नहीं होते, क्योंकि भावी विकास का अनन्त क्षेत्र सदा ही सामने खुला रहता है, लेकिन कोई शताब्दी ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वशालिनी

अवश्य हो सकती है। हिन्दी-भाषा (खड़ी बोली की संस्कृत-निष्ठ शैली) के लगभग हज़ार वर्ष पुराने इतिहास में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध तक का यह सौ वर्षों का काल अभूत-पूर्व है। इन अस्सी-सौ वर्षों के सतत् रचनात्मक प्रयत्नों का ही परिणाम है कि आज हिन्दी-साहित्य देश की अन्य प्रमुख भाषाओं के साहित्य की तुलना में हल्का नहीं रहा। हिन्दी साहित्य को भारतेन्दु, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त, प्रसाद, पंत, निराला, प्रेमचन्द, रामचन्द्र शुक्ल, जैनेन्द्र, यशपाल, राहुल सांकृत्यायन और हज़ारीप्रसाद द्विवेदी पर गर्व है, जो सर्वथा उचित है।

लेकिन जिन्होंने हिन्दी-साहित्य के अस्सी वर्षों की इस कहानी को ध्यान-पूर्वक पढ़ा है, उनसे यह बात छिपी न रही होगी कि राष्ट्रीय-जागरण की पृष्ठ-भूमि में भारतीय सांस्कृतिक पुनर्निमाण (रिनेसाँ) के इस उत्थान का ऊर्ध्व-विकास बीसवीं शताब्दी के चौथे दशक में पहुँच कर रुक-सा गया और ह्रास की प्रक्रिया आरम्भ हो गई। कुछ समय तक तो ह्रासोन्मुखी प्रक्रिया के बारे में आलोचक और पाठक सचेत नहीं हो पाये, लेकिन पांच-सात वर्षों से यह साधारणतया प्रत्यक्ष दीखने लगा है कि हिन्दी-साहित्य (और सम्भवतः अन्य भारतीय भाषाओं का साहित्य भी) इस समय एक ह्रासोन्मुखी प्रक्रिया के आवर्त में फँसा हुआ है। ऐसी रचनाएँ विरल होती जा रही हैं, जिनमें नई युगीन प्रेरणाएँ हों और जिनमें समग्र जीवन का श्रेष्ठ कलात्मक रूपांकन हो। नये लेखकों में व्यक्तिवाद का असामाजिक स्वर ही अधिक मुखर है, उदात्त भावनाओं के स्तर से उतर कर नये रचनाकार व्यक्ति की अधम भावनाओं की अभिव्यक्ति करने में अधिक तत्पर दिखाई देते हैं। जीवन के मार्मिक प्रसंगों का चयन करने की बजाय दैनन्दिक, साधारण कार्य-व्यापारों को, ज्यों का त्यों, निरुद्देश्य अंकित करने की प्रवृत्ति बढ़ रही है। हिन्दी-कविता में जैसे रस, संगठन, सौष्ठव और भाव-तारतम्यता का अभाव होता जा रहा है, वैसे ही कथा-साहित्य में जिन पात्रों की सृष्टि की जाती है, वे

व्यक्तित्व-हीन, एकांगी और कुंठित व्यक्ति होने लगे हैं।

हिंदी-साहित्य की वर्तमान स्थिति के बारे में आलोचकों में इधर काफ़ी विचार-मंथन हुआ है, और आये दिन हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं में 'हिन्दी-साहित्य में गत्यवरोध' या 'साहित्य के मूल्यों का विघटन' की चर्चा रहती है। इस स्थिति को 'गत्यवरोध' की संज्ञा देना ग़लत है, क्योंकि इसका अर्थ हुआ कि हम कहीं एक स्थान पर आकर रुक गए हैं। लेकिन जीवन की तरह साहित्य में भी कोरे ठहराव के क्षण नहीं आते; वह विकासशील होता है या ह्रासशील। संप्रति जो अवस्था है वह ह्रास की प्रक्रिया है, ठहराव की जड़ता नहीं। किन्तु विकास की प्रक्रिया की तरह ही ह्रास की प्रक्रिया भी चिरस्थायी नहीं हो सकती। आज जो ह्रासोन्मुखता है, वह भी निस्सन्देह क्षणस्थायी ही है। और साधारण-तया इस समय राष्ट्र के जीवन में मूल्यों का जो विघटन दिखाई देता है, वह भी अधिक दिनों तक नहीं चलेगा। मूल्यों के विघटन की प्रक्रिया अनेक राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय कारणों से इस समय तेज़ी से चल रही है। विश्वमंच पर पूंजीवाद के पतन और समाजवाद के उत्थान का यह संक्रान्ति-युग इस समय कला-निर्माण के लिए अनुकूल नहीं सिद्ध हो रहा, लेकिन यदि विश्व-शान्ति की कोई स्थायी व्यवस्था हो गई और तीसरे महायुद्ध की सर्वनाशी विभीषिका से मनुष्य-जाति बच गई तो निश्चय ही हमारे सांस्कृतिक जीवन का अगला उत्थान राष्ट्र-निर्माण का नया आशावाद लेकर पैदा होगा और भारतीय साहित्य को नई उदात्त प्रेरणाओं, नई कल्पनाओं और भावनाओं से अनुप्राणित कर देगा। आज साहित्यकार को सामाजिक जीवन से तादात्म्य स्थापित करने में कठिनाई हो रही है, जिससे उसका व्यक्तिवाद अ-सामाजिक और आत्म-केन्द्रित कुण्ठाओं से ग्रस्त हो गया है। किन्तु उस समय सामाजिक जीवन में मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास की सम्भावनाओं को उद्घाटित करने में साहित्यकार की प्रतिभा संलग्न हो सकेगी, और बिल्कुल संभव है कि इस नये राष्ट्रीय उत्थान में राष्ट्रीय जागरण काल जैसी महान्

प्रतिभाएँ पुनः हमारे साहित्यों को विश्वजनीन गरिमा और अर्थवत्ता प्रदान करने लगें। विश्व की प्रगति का भी जनता तीसरे महायुद्ध में अणुबमों से सर्वनाश नहीं होने देना चाहती, और इस समय युद्धोद्धत साम्राज्यवादी शक्तियों से स्थायी विश्व-शान्ति के लिए संघर्ष कर रही है। विश्व-जनता का यह युद्ध-विरोधी शान्ति-संघर्ष ही वर्तमान युग का सबसे महत्वपूर्ण मानववादी संघर्ष है। इसका प्रभाव भी कुण्ठा-ग्रस्त, जीवन की मुख्य-धारा से विच्छिन्न व्यक्तिवादी साहित्यकारों के मानस पर पड़ रहा है। इसलिए भविष्य निराशापूर्ण नहीं है, आज की ह्रासोन्मुखी प्रक्रिया केवल सामयिक है। नये उत्थान की कविता और साहित्य का क्या रूप होगा, किन मार्गों से उसका विकास होगा, इस विषय में कोई निश्चित भविष्यवाणी करना जोखिम का काम है, लेकिन इतना अवश्य दिखाई देता है कि नये उत्थान का साहित्य व्यक्तिवाद की घोर अनास्था, अबुद्धिवाद और समाजद्रोही अहम्मन्यता का एकांगी, व्यक्तित्व को खण्डित और कुण्ठित करने वाला साहित्य न होगा, बल्कि ज्ञान-विज्ञान की सचेतनता को आत्मसात् करके मनुष्य के संपूर्ण अन्त-र्बाह्य जीवन को मूर्त्त, कलात्मक अभिव्यक्ति देने वाला साहित्य होगा, जिससे मनुष्य के व्यक्तित्व का उदात्त और नैतिक, अखंडित और मुक्त विकास प्रेरणा ग्रहण कर सकेगा। लेखक केवल अपने स्व-धर्मा लोगों के लिए नहीं लिखेगा, बल्कि संपूर्ण राष्ट्र और प्रकारान्तर से संपूर्ण मानव-जाति के लिए लिखेगा और अपनी रचना को सबके लिए प्रेषणीय बनाने का उत्साह लेकर आगे बढ़ेगा—अर्थात् स्वयं अपने रचनाशाली व्यक्तित्व की गरिमा और दायित्व को पहचानेगा।